एक रात

जैनेन्द्रकुमार

*

सरस्वती प्रेस बनारस

एक रात

उच्च-कोटिकी १९ मौलिक कहानियाँ

लेखक

जैनेन्द्रकुमार

प्रस्तावना

कहानी आजकल साहित्यका सर्वमान्य रूप है। जो तत्त्व देना हो उसे व्याव-हारिक, जीवित रूप दे सकिए तो ठीक। तब आपके उस तत्त्वको लोग सुनेंगे, समझेंगे, सराहेंगे। मात्र शुष्क तत्त्व ही यदि आप देते हैं तो वह चाहे कितना गम्भीर हो, कितना भी सूक्ष्म और तथ्यात्मक हो, लोग उसे न लेंगे। ऐसे संभावना यही होगी कि वह बहुधा नाकारा ही रह जायगा।

ज़माना भी ऐसा आगया है कि लोगोंको मनन और अध्ययनकी फ़ुरसत नहीं है। अपने अपने-काममें सबको रहना होता है। अपने लिए रोटी-कपड़ा पा लेना ही अधिकांशके साथ अपने-आपमें सदा एक सवाल बना रहता है। फिर भी सत्यकी तो हर किसीको ज़रूरत ही है। वह सत्य व्यस्त और अनुत्सुक लोगोंको कैसे दिया जाय कि उन्हें अङ्गीकृत हो, जिसमें उन्हें रस हो, दिलचस्पी हो? यह प्रश्न विचारक-के सम्मुख आता है।

दार्शनिक तत्त्वके रूपमें सत्य अत्यन्त गरिष्ठ है। उस रूपमें वह सत्य अपरीक्षित भी है। वह अधिकांशके लिए अग्राह्य है। उसको दृष्टान्तगत, चित्रगत और कथारूपमें परिवर्तित करो, तभी वह रुचिकर और कार्यकारी बनता है।

ज्यों-ज्यों जीवन विषम होता गया और सामाजिकता बढ़ती गई, त्यों-त्यों इस बातकी आवश्यकता व्यक्त होती गई कि शास्त्रीय सत्योंको व्यवहार्य तथ्य बनाया जाय। त्यों-हो-त्यों कथाकी मान्यता और उपादेयता बढ़ती गई। उसीके साथ-साथ, स्वभा-वतः कथाकी ज़िम्मेदारी भी बढ़ती गई। पहले कथा कल्पना-प्रधान होती थी और लोगोंका जीबहलाव करती थी। धीरे-धीरे उस कथाके शरीरमें अधिक प्राण डाला जाने लगा। उसमें मनुष्यने अपनी आकांक्षाएं और अपनी समस्याएँ भी उड़ेल देनी चाही। कथाके शरीरके गढ़नेमें आलोचना और विवेचना भी दरकार होने लगी

कहानीसे आशा की जाने लगी कि वह जीवनके भेदोंपर भी प्रकाश डाले, और उलझनोंको सुलझाए।

शास्त्रने तो कह दिया 'सत्यं वद'। लेकिन असली ज़िन्दगीमें 'सत्यं वद' सीधी-सादी चीज़ नहीं रह जाती। 'सत्यं वद' पर जब चलना आरम्भ करते हैं, तो पेंच-पर-पेंच पैदा होते हैं।

उस सीधे-सादे कथनमें शंकाएँ निकलती ही जाती हैं। तब आदमी कहता है, शास्त्रका 'सत्यं वद' हमको मत दो। दुनियाको सामने रखकर दृष्टान्तसे हमें दिखलाओ 'सत्यं वद' क्या है? कैसे वह टिकता है?

निःसंदेह मनुष्यकी यह माँग ठीक हो है। सत्य किताबी रहकर तो निर्जीव रहता है। दुनियाकी कसौटीपर वह कसकर देखा जाय तब तो उसके खरेपनका पता चले।

इस तरह कथा जनमी, बढ़ी और आज साहित्यके क्षेत्रमें सर्वाधिक स्वीकृत एवं मान्य हुई।

कथा कही जाती रही, सुनी जाती रही। लिखी जाकर फिर वही संग्रहीत हुई और साहित्य बन गई। जहाँ हुआ उसने इतिहासका, वास्तवका आधार ले लिया, नहीं तो कल्पनाके और हृद्गत अनुभूतिके बलपर ही वह खड़ी हो गई। बहरहाल कथा जीवनके साथ अनिवार्य बनती चली गई। कथाको नाटकका रूप मिला। उसका अभिनय हुआ और वह दृश्य बनी। आगे विज्ञानने बढ़कर साधन प्रस्तुत किये कि वह दृश्य कथा स्थायी और यहाँसे उठाकर वहाँ ले जाने योग्य बन जाय। सिनेमेटोग्राफ़ बने और चलती-फिरती कथाएँ हम चित्र-पटपर देखने लगे। हम और भी आगे बढ़े और यही सम्भव नहीं रहा कि पटपर जीते-जागते मनुष्य, चलती-फिरती कथाएँ दिखाई दें, वरन् यह भी घटित हो आया कि वह हमें बोलते, गाते और हँसते भी नजर आएँ। इसी टॉकी-युगमें हम आज हैं, और कौन जानता है कि देखते-देखते रेडियो-युग भी अब जल्दी ही आ पहुँचनेवाला नहीं है।

किन्तु पाषाण-युगसे टॉकी-युग तक एक चीज़ तो बराबर हमारे साथ लगी है। वह है कथा। वह कथा अधिक-से-अधिक मूर्त्त और सजीव होकर हमारे सामने अवतरित हो, इसकी चेष्टामें हम बढ़ते ही आये हैं। किन्तु इस तमाम चेष्टाके मध्यमें वह कथा ही प्रधान अभीष्टकी भाँति विराज रही है।

विलायतमें कहानी बहुत आगे बढ़ गई है। आगे बढ़नेका मतलब यही है कि वह स्थूलसे सूक्ष्म और सूक्ष्मसे सूक्ष्म-तर वस्तुके आकलनकी ओर बढ़ रही है।

यह बात अच्छी तरह समझ लेनी होगी कि शरीरसे प्राणोंकी ओर बढ़ना होगा। बनावटसे स्वाभाविकताकी ओर बढ़ना होगा। सजावटसे रुचिरताकी ओर, और आडम्बरसे प्रसादकी ओर बढ़ना होगा। स्थूल वासनाके नीचे धरातलपर इस प्रगति-शील जगतमें टिकना नहीं हो सकेगा, सूक्ष्मकी ओर अग्रसर होना ही होगा। इसीका नाम विकास है।

इस पुस्तककी कई कहानियोंके विषयमें लोगोंको शंका है। लेकिन वे समाधान मुझसे न माँगें, मैं इनकार कर दूँगा। इसलिए नहीं कि समाधानके नामपर मैं उन्हें बहुत-कुछ नहीं दे सकता, प्रत्युत् इसलिए कि मैं मानता हूँ कि मनमें शंका, उद्वेलन पैदा करना भी मेरी कहानियोंका एक इष्ट है। आपके मनमें शंका है, आप स्वयं उससे छुट्टी पाइए। मदद मुझसे जितनी चाहे लीजिए, पर समाधान मत लीजिए। क्योंकि समाधान तो वही है जो अपने चित्तमेंसे मिलता है, बाहरसे नहीं।

'एक रात' कहानी पहले-पहल इसी पुस्तकमें आई है, अन्यत्र नहीं छपी। फिर भी कुछ मित्रोंने उसे देखा है। वह पूछते रहे हैं कि यह क्या है? मैं कह देता रहा हूँ कि जो है, वही है। मैं उनकी शंकाके प्रति अविनयी नहीं बना हूँ। किन्तु जब उन्होंने मुझे सुनाया कि कहानी पढ़ते-पढ़ते उन्हें लगी अवश्य अच्छी है, तभी मैंने भर पाया। इसके आगे बढ़नेपर जब वे उसका अर्थ माँगते देखे गए, तब मैंने कहा कि रस लेकर वे मुझसे और अधिक माँगते ही क्यों हैं! समझ लें कि मेरे पास अर्थ बाँटनेके लिए है ही नहीं।

कुछ कहानियाँ हैं जो 'अलौकिक' हैं। कुटुम्ब-परिवारवाला, नाम-गोत्रवाला जो सामाजिक मनुज दुनियामें रहता है, वे कहानियाँ उसकी कुछ बात ही नहीं कहतीं। जानें हवा-आसमानकी और क्या-क्या बातें कहती हैं। हम तो धरतीपर रहते हैं, हमें वहींकी बात कहो। ऐसी बात कहो, जो हमारे आजके कामकी और यहाँके कामकी हो। 'अलौकिक' नहीं चाहिए; जो लौकिक कर्त्तव्य सुझाए, वैसी बात हमें चाहिए।

आलोचक और पाठक जरूर यह कह सकते हैं। लेकिन मैं उन्हें बताना चाहता हूँ कि वे भूलते हैं, जब कि वह मानते हैं कि आसमानसे उनका सम्बन्ध नहीं, धरतीपर ही वह रहते हैं। रहते होंगे धरतीपर, लेकिन देखते आसमान भी हैं।

धरतीपर ही रहना है, तो आँख क्यों माथेमें है, वह पैरके तलुओंमें क्यों नहीं है ? मैं किसी ऐसे व्यक्तिको नहीं जानता, जो मात्र 'लौकिक' हो; जो सम्पूर्णतासे शारीरिक धरातलपर ही रहता हो। अरे, सबके भीतर हृदय है, जो सपने लेता है। सबके भीतर आत्मा है, जो जगती रहती है, जिसे शस्त्र छूता नहीं, आग जलाती नहीं। सबके भीतर वह है जो 'अलौकिक' है। मैं वह स्थल नहीं जानता जहाँ 'अलौकिक' न हो। कहाँ वह कण है, जहाँ परमात्माका निवास नहीं है ?

इसलिए आलोचकसे मैं कहता हूँ कि जो 'अलौकिक' है, वह भी कहानी तुम्हारी ही है, तुमसे अलग नहीं है। रोजके जीवनमें काम आनेवाली, तुम्हारी जानी-पहचानी चीजोंका और व्यक्तियोंका वहाँ हवाला नहीं है तो क्या, उन कहानियोंमें तो वह 'अलौकिक' है जो तुम्हारे ही भीतर अधिक गहरेमें पैठा है। जो और भी घनिष्ठ और नित्य रूपमें तुम्हारा अपना है।

उस आलोचकके प्रति अपनी सद्भावनाको ध्यानमें लाकर मैं तो यह भी सोच उठता हूँ कि लौकिक, सामाजिक और रीयलिस्टिक कहानियाँ छोड़कर एकदम 'अलौकिक' अनपेक्षित और आइडियलिस्टिक कथाएँ लिखने लगूँ, तो क्या यह अच्छा न हो ?

भाषाके विषयमें भी लोग कहते हैं। लेकिन उस बारेमें तो कुछ न कहना ही अच्छा।

७, दरियागंज, दिल्ली
२०।६।३५

—जैनेन्द्रकुमार

सूची

———

एक रात

१

जयराजकी तीस वर्षकी अवस्था होगी। धुनमें बँधा, सदा काम-काजमें रहता है। अपने प्रान्तकी कांग्रेसका वही प्राण है। लोग उसे बहुत मानते हैं। उन्हें छोड़ और वह रहता किसके लिए है? अविवाहित है और उससे विवाहका प्रस्ताव करनेकी हिम्मत किसीको नहीं होती। जैसे उसे विवाह तो क्या मौतकी फ़ुरसत नहीं है।

सबेरेका वक्त था। नौका समय होगा। आधी बाँहोंका कुर्ता और जाँघिया पहने वह एक परिषद्के लिए अपना भाषण लिख रहा था।

उसी समय उससे पूछा गया कि एक डेपुटेशन मिलनेके लिए आया है, क्या जयराज मिल सकेंगे? क्या डेपुटेशन अन्दर आये?

"अवश्य।"

जयराजने काग़ज़ वहीं छोड़ दिये और वह डेपुटेशनकी प्रतीक्षामें खड़ा हो गया।

डेपुटेशनके सज्जन आये और उसने जानना चाहा कि उसके लिए क्या आज्ञा है?

प्रतिनिधिगण जयराजको अपने कस्बेमें ले जाना चाहते हैं। कस्बेका नाम, हरीपुर।

जयराजने कहा—'हरीपुर!'

"आप कभी वहाँ नहीं पधारे हैं। हमारे यहाँ सन् ३० में कई बार लाठी-चार्ज हुआ। तहसीलसे दो सौसे ऊपर वालंटियर जेल गये। बीस तो महिलाएँ थीं। हमने कई बार अनुरोध किया कि आप आयें। हम बिना नेताके कब तक काम कर सकते हैं?..."

जयराज सुन रहा था। सुनते-सुनते वह चटाईसे उठा और टहलने लगा। टहलते-टहलते उसने कहा—हरीपुर! कितनी दूर है?

"...कुल तीन स्टेशन है। इस बार तो आपको जाना ही होगा। जनतामें बहुत उत्साह है। तहसील-कान्फ्रेंसकी कलकी तारीख है, आपको मालूम ही होगा। जनता आपके दर्शनके लिए बहुत उत्सुक है। प्रान्तमें आप सब जगह जाते हैं, एक बार हमारे देहातमें भी चलनेकी कृपा कीजिए। देखिए, आप हताश न करें।......"

जयराजके टहलनेकी चालमें तेज़ी आ गई और वह सुनता रहा—

"...महात्माजी भी अब गाँवोंकी तरफ जोर दे रहे हैं। हम पूरे विश्वाससे आये हैं। हम निराश नहीं जायँगे।..."

जयराज टहल रहा था। उसने कहा—हरीपुर !...क्या, कल? कितने स्टेशन आपने बताया? हाँ, तीन स्टेशन। क्या टिकट है?

कई कठोंने कहा—सात आने।

"सात आने।...कान्फ्रेंसका क्या वक्त है?"

"चार बजे शाम।"

"चार बजे शाम ! शामको गाड़ी कब वापिस आती है? मैं रातको नहीं ठहर सकता।...अँ-अँ...हाँ, रातमें बिलकुल नहीं टिक सकता।.. हरीपुर !" मानो वह कुछ स्मृतिमें लाना चाह रहा है, या वहाँसे हटाना चाह रहा है। चलते-चलते शेल्फ-मेंसे रेलवेका टाइम-टेबिल निकालकर वह देखने लगा—

डेपुटेशनके कई व्यक्तियोंने कहा—एक छः पैंतीसपर आती है, दूसरी रातके साढ़े ग्यारह बजे। आप रातको आ जाइएगा। आपको किसी तरहकी तकलीफ नहीं होने दी जायगी।

"साढ़े छः बजे ! हाँ-आँ, लेकिन मैं साढ़े ग्यारहकी गाड़ीसे नहीं आ सकता। इतनी राततक मैं नहीं रुक सकता। बिलकुल नहीं रुक सकता। मुझे बहुत काम रहता है।"

हरीपुरके प्रतिनिधियोंने कहा—बहुत जरूरी समझें, तो फिर पौने सातकी गाड़ी-से ही आ जाइएगा।

"हाँ, पौने सातपर भी गाड़ी आती है। मैं आठतक यहाँ आ सकता हूँ। ठीक !.. लेकिन ठहरिए, मैं जरा देख लूँ।" उसने चलते-चलते मेजपरसे डायरी उठाकर देखी। देखकर रख दी। "नहीं, नहीं, मैं नहीं आ सकूँगा। मुझे क्षमा करें।

देखिए, नेतृत्वके मामलेमें गाँवोंको आत्म-निर्भर बनना होगा। नेताओंका भरोसा आप क्यों रक्खें? इस तरह सरकार हमें हरा सकती है। चुन-चुनकर कुछ आदमियों-को जेलमें डाल दिया और राष्ट्रकी रीढ़ टूट गई। नहीं, नहीं, प्रत्येक व्यक्ति नेता हो, प्रत्येक व्यक्ति कृत-निश्चय हो। तब तो स्वराज्य मिलेगा। नहीं तो अगर स्वराज्य मिला भी, तो जनताका स्वराज्य वह कब हुआ? हम लोगोंका आसरा अब छोड़ दीजिए। मैं आप-सा ही आदमी हूँ, दो टाँगें, दो हाथ। आप दिलमें इरादा पैदा कीजिए और मुल्कके लिए रहिए, तो आपमें मुझमें क्या फर्क रह जाता है? तो यह ठीक है न? आप मुझे छोड़ें। सब बाहरी लीडरोंकी आस छोड़ो। खुद लीडर बनो। आपकी तहसीलका आपकी तरह मैं प्रतिनिधि हो सकता हूँ?... देखिए, मैं जरूर चलता, लेकिन मजबूरी आ गई है।"

प्रतिनिधि लोगोंको बहुत दुःख हुआ। जयराजकी वहाँ बहुत ही माँग थी और उन्हें भरोसा था कि जयराज उनके हृदयको तोड़ नहीं सकेगा। उन्होंने कहा—तो हम लोग जायँ?

जयराजने टहलते-टहलते कहा—हाँ, आप मुझे माफ कर दें।...आपने कहा, तीन स्टेशन हैं, पौने सात बजे गाड़ी वापिस आती है। देखिए, मैं कोशिश करूँगा। मोटरका रास्ता तो नहीं है?...नहीं? अच्छा, आपको तकलीफ करनेकी जरूरत नहीं है। आ सकूँगा, तो मैं अकेला ही आ जाऊँगा। स्टेशन बस्तीसे कितनी दूर है?...तीन मील है? तो अच्छी बात है। आप विश्वास रक्खें, मैं भरसक प्रयत्न करूँगा।

प्रतिनिधियोंने कहा—गाड़ीपर सवारी तैयार मिलेगी।

"अच्छा, अच्छा।. आप लोगोंको कष्ट हुआ। देखिए, मैं आऊँगा। लेकिन वादा नहीं कर सकता। यहाँ दो बजे गाड़ी जाती है न?...नहीं, नहीं, आदमी भेजनेकी कोई जरूरत नहीं है। और फिर कहीं आदमी भेजना बेकार न हो।...जी हाँ, जी हाँ। लेकिन गाँवोंको स्वावलम्बी होना होगा। अच्छी बात है।...वन्दे।"

डेपुटेशनके लोग चले गये और वह लम्बे डगोंसे टहलता ही रहा। आरम्भ किया हुआ भाषण पूरा करने मेज़पर जल्दी नहीं आ गया। अन्तमें टहलते-टहलते वह मेज़पर आ बैठा और होल्डरसे ब्लाटिंग-पैडपर लिखा, लिखा कहें कि खींचा—

Swaraj is our birthright—as indisputable elsewhere as in politics.

Swaraj
Love
Independence
MARRIAGE ?

But there is marriage too. Marriage gives man a foothold, society a unit. It gives a home.

Alright. Perfectly alright. But—?

And there is Love in the human breast. Love gives us glow, gives us bliss. Love makes us transcend the physical and touch the spiritual. That makes us reach out beyond the here and the now, reach out with the eternal vanity of life.

God made love. Did God make marriage also ? No, man did the making of it. And I say Love is not chaos. It is never that. Never. Never !

Ah, how slavish of me thus unwittingly to use English. Must write Hindi ! हिन्दी-हिन्दी । हिन्द हमारा देश, हिन्दुस्तानी हैं हम, हिन्दी हमारी भाषा, हिन्दी हमारा बाना - भाइयो !

हरीपुर—२३ मील, सबेरेकी गाड़ी । मैं नहीं जा सकता । Oh Damn it all ! Why make a misery of it—Dear Jairaj, mind, lest—

इतना बनाकर वह सिरको हाथोंमें थामे मेज़से उठ खड़ा हुआ और भूल गया कि एक हफ्तेमें उसे अपना सभापतिका भाषण ज़िला-कान्फ्रेंसके स्वागत-मंत्रीको छपनेके लिए भेज देना है ।

*　　　*　　　*

बिना ताले और बिना प्राइवेसी जयराज सबका बनकर अकेला रहता है । अब तक जीवनके पाँच वर्ष जेलमें बिता चुका है । खाली रहता ही नहीं । कालेजके चौथे वर्षसे पढ़ना छोड़ दिया, तभी सगाई भी तोड़ दी । हाँ, यही कहना होगा कि तोड़ दी, क्योंकि दूसरी ओरसे तो उसके टूटनेकी बात ऊपर आई सुनी गई नहीं । बात यह भी हुई कि जो दुनियामें सीधी, शाही सड़क है, जयराजने अपनेको कुछ उससे भटक चलता हुआ पाया । उसे इसमें शंका होने लगी कि ठीक-ठीक कमाने और खिलानेवाला पत्नीव्रत पति उसके स्वभावमें होना लिखा है । क्या जाने कोई संकट,

कोई चुनौती अँधेरेमेंसे उसे कभी भो पुकार नहीं उठेगी। उसे लगाता था कि उस समय उससे घरपर बाल-बच्चोंसे घिरा किस भाँति बैठा रहा जायगा ? तब उसने अपने साथ तर्क करके सोचा—तब मैं कौन हूँ कि एक कन्याको अपने साथ गुँथने दूँ ? मैं संकटकी ओर मुँह करके भागूँगा ; उसका वही मुँह पकड़नेके लिए जो डराता है, ताकि जग निर्भय बने। लेकिन इसी उद्देश्यके साथ परिणयमें किसी किशोरिकाको बाँधनेवाला मैं कौन ? चलते-चलते राहमें एक बेचारी लड़कीके साथ खिंचकर, बँधकर, अपनी अलग झोपड़ी बसाकर रुक जानेवाला मैं कौन हूँ ?

इस दुनियामें मुझे रुक पड़नेकी छुट्टी कैसे है ? किसी भी लालचमें पड़कर राहके किनारे मुझे रम जाना क्यों है ? अकेले-ही-अकेले चलते ही चलना है। क्योंकि जिधर मुझे चलना है, उधर अँधेरा ही अँधेरा है—उधर अकिंचनता है। अँधेरेके भीतर तहपर तह भेदकर मुझे वह पा लेना है और ढा देना है, जो ज्योतिको छेंकता है।

उसने सोच लिया—जो उसकी ही बनती-बनती रह गई वही अब किसी और दूसरेकी हो। सहर्ष उसकी हो जो उसे विलास और विपुलतामें ले जाय। अभावमें और विपदमें ले चलनेके लिए उसे साथ लेनेवाला मैं नहीं हूँ, नहीं हूँ।

सो उसने सगाई तोड़ दी। या कहो, बुरा हुआ कि सगाई टूट गई। सच, क्या उसने सुना था कि कन्याके पिता कहीं अन्यत्र वैभव और विपुलता देखकर उस ओर झुकनेकी छुट्टी चाहते हैं ? कौन जाने। जयराजके मनका हाल बाहर नहीं होता है। लेकिन यह पूर्णतया विदित है कि वह अविवाहित ही रहा है, विपदाके आतिथ्य-से कभी उसने मुँह नहीं मोड़ा है और कभी वह हरीपुर नहीं गया है।

* * *

सबेरे नौ बजे एक जवाबी तार आ गया। हरीपुरवालोंका तार था, लिखा था—"आपकी उपस्थिति अत्यन्त अनिवार्य है। क्या सहस्रोंको निराश करेंगे ?"

तार हाथमें लेकर वह थोड़ी देर घूमता रहा। कुछ देर बाद मेज़पर आकर उत्तरमें लिख दिया—"असमर्थतापर अत्यन्त खिन्न हूँ। स्वावलम्बन स्वराज्य है। सफलताकी हार्दिक कामनाएँ।"

यह लिख देकर उसके चित्तने चैनकी साँस ली और मानो अन्दर-ही-अन्दर मुसकिराकर जयराजने अपने अधलिखे काग़ज़ोंको खींचकर सामने ले लिया। उन्हें

पढ़ा, पढ़कर खुश हुआ। आगे लिखनेके लिए उत्साहसे कलम उठाया। वह कलम कागज़पर टिका,—टिका ही रहा, बढ़ा नहीं। और जब वह कलम वहाँसे उठा तब स्याहीकी एक मोटी काली बूँद वहाँ बैठी शेष रह गई। थोड़ी देर वह कुर्सीपर खाली बठा उस बूँदको ही देखता रहा। फिर उठकर बालोंको खुजलाता हुआ टहलने लगा।

'...ठहरो मुझे साफ-साफ देखने दो। मैं क्या हूँ? मैं ऐक उद्देश्यपर समर्पित व्यक्ति हूँ। मेरा निजत्व क्या है? कुछ नहीं है। मेरा स्वार्थ क्या है? कुछ नहीं है। क्या मेरे लिए परमार्थ भी कुछ है? कुछ नहीं है। मेरे लिए एक ही वस्तु है। वही मेरा स्वार्थ, वही मेरा परमार्थ, वही मेरा निजत्व, वही मेरा लक्ष्य। जब समर्पित हूँ, तब मैं किसी भी और अन्य विचारके लिए खाली नहीं हूँ, बचा नहीं हूँ, जीवित नहीं हूँ। मेरी देह, मेरे मन, मेरी बुद्धिमें कहीं भी कुछ औरके लिए अवकाश कैसे हो, सिवाय उसके जिसके लिए मैं न्योछावर हूँ?···किसके लिए मैं न्योछावर हूँ? राष्ट्रके लिए। राष्ट्रके स्वराज्यके लिए। राष्ट्र क्या? वह राष्ट्र कहाँ है? मेरे हृदयमें वह राष्ट्र कहाँ है? क्या अमुक और अमुक भौगोलिक परिधियोंसे परिमित भारतवर्ष नामक भूखंडका चित्र मेरे भीतर गहरा उतरकर सदा जाग्रत रहता है? क्या वही यों जीकी धड़कनमें सदा स्पन्दन करता रहता है? नहीं, स्पन्दन करता हृदय है, राष्ट्रकी भावनाके बिना भी वह स्पन्दन करता है। जान शेष और विश्वात्माका निर्देश है, तबतक वह स्पन्दन रुकेगा नहीं, होता ही रहेगा। तब राष्ट्र क्या है?···लेकिन ठहरो, मैं शंकितचित्त नहीं बनूँगा।···'संशयात्मा विनश्यति।' यह प्रश्नातीत रहे कि राष्ट्र है। मैं राष्ट्रसेवक हूँ। और कुछ भी नहीं हूँ। जयराज मात्र नाम है। जयराजका कोई पार्थक्य नहीं, कोई व्यक्तित्व नहीं है। जयराज राष्ट्र-सेवक है, एक, निरा, बस।···

'···हरीपुरके आदमी आये। हरीपुर मुझे माँगता है। मैं राष्ट्रका हूँ, प्रान्तका हूँ, ज़िलेका हूँ, गाँवका हूँ, हर आदमीका हूँ। मैं किसकी माँगसे विमुख हो सकता हूँ, जबतक कि मेरे उद्देश्यकी ही दिशाकी कोई दूसरी अधिक हार्दिक, अधिक बृहत् पुकार सामने न हो। जयराज, हरीपुर हैं, कि रामपुर है, कि जनकपुर है, तेरा उनमें अपना-पराया क्या है? कैसे एकसे बच सकता, दूसरेसे खिच सकता है? तैंने यह क्या अपने साथ जुल्म किया है कि हरीपुरके प्रतिनिधियोंके हृदयोंको

चोट दी है ? तू तारके जवाबमें भी भीरु बना है ! तेरे पास क्या और कुछ है, कौनसा वह राष्ट्रका काम है, जो हरीपुरवालोंकी मांगको अस्वीकार कर देनेको औचित्य दे सकता है ?···

'···देखो जयराज, तुम जरा भी अपने नहीं हो। तुमको अपने सेवा-कार्यके साथ अशेषरूपमें एकाकार रहना होगा। वही रहे, तुम न रहो। राष्ट्र रहे और राष्ट्रके सेवकके अतिरिक्त तुम और कुछ न रहो।···'

* * *

जब जयराज अचानक ही भरी सभामें जा पहुँचा और उसे अध्यक्षके आसनके पासके आसनपर ला बिठाया गया, तब सभा उसके ऊँचे जय-घोषसे गूँज उठी। जयराजने निःस्पृह भावसे उपस्थित नरनारियोंकी भीड़को देखा। देखकर उसका हृदय भर आया। उसका हृदय भारतके गौरवपर फूल आना चाहता था।

सभा आरम्भ हुई और थोड़ी देर बाद सभापतिने कहा—श्रीमती सुदर्शनादेवी अपना स्वागत-गान पढ़ेंगी।

महिलाओंके बीचमेंसे ही एक ओरसे सुदर्शनादेवीने उठकर पहले जयराजके गलेमें खद्दरके फूलोंकी माला डाली, प्रणाम किया और मंचके पास जाकर स्वागत-गान आरम्भ किया।

जयराज स्वागत-गान गाती हुई उस नारी-मूर्तिके उस पार श्रोताओंके समूहको बिना देखे निर्निमेष देखता रहा।

'···वह मात्र राष्ट्र-सेवक है और यदि यहाँ उपस्थित राष्ट्रकी जनता उसका सम्मान करने आई है, तो वह राष्ट्रकी टेकका सम्मान है।' उसीके नामको निमित्त बनाकर स्वागत-गानका अर्घ्य देती हुई जो महिला मंचपर खड़ी गा रही है, उसकी ओर बिना देखे जयराज अपने मनमें कहने लगा—'यह भारतकी नारी-शक्ति मुझमें केवल राष्ट्र-संकल्पका ही स्वागत कर रही है। मैं स्वागतको लेकर राष्ट्रके चरणोंमें ही तो दे सकता हूँ। मेरा स्वागत यह नहीं है—मेरा नहीं है। यह स्वागत-गान प्रदान करनेवाली, मात्र नारी-शक्तिकी ही प्रतिनिधि होकर, मेरे गलेमें यह माला डाल गई है। यह माला न मेरे लिए है, न उसकी है। वह कौन है ? उसका नाम सुदर्शना है। पर सुदर्शना नाम ही है। वह इस समय भारतीय नारीकी गरिमाको

अपने कल-कंठके गुंजारसे मुझको उपलक्ष्य बनाकर भारत-माताके पद-पद्मोंमें भेंट देने के लिए प्रस्तुत हुई एक सेविका है···।'

और जयराजने गलेमेंसे माला उतारकर सामने रख दी—

'···सेविका है। हाँ, नाम उसका सुदर्शना है। सुदर्शना न होकर सुनयना भी हो सकती थी। जयराज, भारतीय नारीत्वकी यह भेंट, भारतीय वीरत्वके संकल्पके प्रति है। तेरा अपना इसमें निजत्व कुछ नहीं है। कुछ भी नहीं है। सुदर्शनाको तू सुनयना या सुलोचना ही समझ। बस एक इकाई, भारतके राष्ट्रकी एक आदरणीय नारी···'

और उसने सुनयना अथवा सुलोचना नामकी एक इकाई बन गई हुई सुदर्शनाकी ओर पहली बार देखा। वह सामनेकी भीड़को देखती हुई स्वागत-गीत गा रही थी। क्या उसके स्वरमें राष्ट्र-प्रेमका ही दर्द था? उसके गानमें क्या राष्ट्र-स्नेहहीकी मिठास थी? क्या वाणीके कम्पनमें स्वराज्य-युद्धका ही आह्लाद था? क्या उसमें राष्ट्रके एक वीरको निःस्पृह पूजा देनेका ही उल्लास था? क्या उसमें अत्यन्त निजी भी कुछ न था? कुछ बिलकुल व्यक्तिगत, हृद्गत, मर्मगत, देशके भावसे भी कुछ गहरे तलतक गया हुआ? कुछ वह जो राष्ट्र-देवसे किसी अधिक मूर्तिमन्त, अधिक जीवन्त, अधिक निजीय देवताके प्रति समपर्णीय हो···।

गरदनको झटका देकर, उसे सीधी करके और फिर सामने निगाह स्थापित कर जैसे जयराजने एकाएक लगाम खींची।

'जयराज, राष्ट्रपर चढ़ते हुए अर्घ्यमें कुछ भी अपना निजत्व मानकर अर्घ्यको अपवित्र न करो। चोर न बनो। यज्ञ अशुचि न बनाओ। तुम्हारा कुछ नहीं है—कुछ नहीं है। कुछ तुम्हारे लिए नहीं है, कुछ तुम्हारी स्वीकृतिके लिए नहीं है। सुदर्शना सुनयना भी हो सकती है, सुलोचना भी हो सकती है। माला भारतीय नारीके हाथों भारतीय पौरुषके गलेमें पड़ी है। नारी-शक्तिने युद्धपौरुषका स्वागत-गान किया है, जयराज!···'

स्वागत-गान गाती हुई सुदर्शनाकी ओर जाती-जाती अपनी निगाहको मोड़कर सीधी रखते हुए जयराजने सोचा—

'जयराज, सीधे देखो। राष्ट्रकी आरतीको पवित्र रहने दो। तुम्हारी अमानतमें देकर यह स्वागत राष्ट्रके भविष्यके अभिनंदनमें किया जा रहा है। खबरदार, जो

उस अमानतको स्निग्ध निगाहसे भी तुम देखो, जो ज़रा भी तुम छुओ। राष्ट्रके उदीयमान भविष्यके चरणोंकी ओर उस अभिनंदनको बढ़ने दो, वहीं चढ़ने दो। तुम उपादान रहो, अपनी गृद्धि उसमें कुछ मत रक्खो!...'

एकाएक घड़ी देखी—साढ़े चार! उसने झुककर सभापतिसे कहा—गाड़ी कब जाती है?

"क्या आज ही जाइएगा?"

"शायद पौने सात बजे जाती है। मैं रह नहीं सकता।"

इसी समय वह जैसे एकाएक अतिशय उद्विग्न और अत्यन्त व्यस्त हो उठा—"मैं नहीं रुक सकता। जी नहीं, मैं किसी तरह रुक नहीं सकता। देखिए—"

और सुदर्शनादेवीने धीरे-धीरे उसकी ओर आकर, समक्ष ठहरकर फ्रेमसे जड़े हुए और अपने हाथके सुन्दर-सुन्दर अक्षरोंमें लिखे हुए स्वागत-गानको उसके चरणोंमें रख दिया और मस्तकको उन चरणोंके पास झुकाकर प्रणाम किया।

जयराजने बिना सुदर्शनाकी ओर निगाह उठाए, झपटकर उस फ्रेमको लिया और सामने रक्खी मालापर औंधा कर दिया!

"देखिए, मैं हर्गिज—हर्गिज नहीं रुक सकता। मुझे बहुत जरूरी काम है—"

अध्यक्षने कहा—सबेरे आरामसे चले जाइएगा। तहसीलके कांग्रेसकार्यकर्त्ता सब जमा हैं। कांग्रेस-कार्यक्रमके सम्बन्धमें आपसे परामर्श चाहते हैं। नौ बजे मैंने उनकी सभा बुला ली है।

जयराजने झींककर कहा—ओह, यह आप क्या करते हैं! मुझे चले जाना चाहिए। सभा आप अपनी करते रहिएगा। मैं कह चुका हूँ, स्वावलम्बी बने बिना न चलेगा। मैं रातको नहीं ठहर सकता।

अध्यक्षने विनीत भावसे कहा—सबेरे छः बजे एक गाड़ी जाती है। आरामसे आपको उसमें बिठा दिया जायगा। सात बजते-बजते आप मकानपर होंगे। अगर—

जयराजने कुछ अधीर होकर कहा—"नहीं—नहीं, साहब।" और फिर एकाएक स्वयं सावधान होकर तथा अध्यक्षको सावधान करते हुए कहा—"लेकिन, अपने मंचकी तरफ तो देखिए, वह खाली है।" सभापतिने उठकर कहा—"भाइयो—"

जयराज फिर गरदन सीधी कर सामने अनिमेष देखने लगा। सभापति उसका

स्तुति-गान कर रहे थे। वह एक ओर भारतके भाग्यपर गर्वित होता, दूसरी ओर रोना चाहता था। वह रह-रहकर घड़ीकी ओर देखता था। घड़ीकी सुई मिनट-मिनटपर आगे आती थी। वह मण्डपमें एकत्रित जनताको देख रहा था। इस दृष्टि-प्रसारमें सभाका रंग-बिरंग विभाग भी बिछा दीखता था। वह यदि आँख उठाकर उस महिला-ब्लाककी ओर देखता था तो उसमें स्त्रियोंको अलग-अलग नहीं देखता था। मानो भारतीय स्त्रीत्वकी गरिमाको समग्र अविभक्त रूपमें ही देखता था। सब नारियोंके चित्र-विचित्र परिधानोंने एक साथ इकट्ठे होकर मानो उस गरिमाके रूपमें अद्भुत छटा ला दी है। इस चित्रमें कहाँ सुदर्शना है? कहाँ सुलोचना है? कहाँ सुनयना है?—इसका कुछ भी पता नहीं है। सब मिलकर चित्रको जीवन दे रही हैं, ऐश्वर्य दे रहीं हैं। वह जीवन और वह आभा ही ध्यान देनेके लिए है। भारतके प्राणोंका लालित्य ही वहाँ फूट पड़ा है। वह सब, समष्टिरूपमें, भारतीय नारी-गौरवके उपमानकी अपेक्षा ही जयराजके आकर्षणके लिए है। यों सुदर्शना, सुनयना भी हो सकती है, सुलोचना भी हो सकती है।

सभापति आ बैठे। घड़ी पाँचसे आगे पहुँच गई है और जयराजको अब सहस्रों दृष्टियोंका मध्यप्राण बनकर बोलना होगा। वह उठा और करतल-ध्वनिके घोर रवने उसे पूरी तरह डुबो लिया। वह जाने कहाँ पहुँच गया था। मंचपर पहुँचकर उसने बोलना शुरू किया—

* * *

लौटकर देखा—घड़ीमें साढ़े छः से ऊपर हो गया है! उसने झटाकर सभापतिसे कहा सवारीका इन्तज़ाम है? मुझे अभी जाना चाहिए।

सभापतिने उत्तरमें घड़ीकी ओर देखा।—मानो, घड़ीके मुँहके सामने उन्हें बोलनेका सामर्थ्य नहीं है।

जयराजने कहा—देखिए नहीं, सवारी मँगा भेजिए। आपने मुझे बीचमें वक्तकी याद क्यों नहीं दिलाई?

सभापतिने निवेदन किया—गाड़ी मिलना मुश्किल है।

जयराजने कहा—ठीक है, आप कान्फ्रेन्स चलाइए। मुमकिन है, गाड़ी ही लेट हो। मुझे इजाज़त दीजिए, मैं चलूँ।

सभापतिने साश्चर्य कहा—अब आप कहाँ जाइएगा? पैदल?

जयराजने उस माला और स्वागत-गानको उठाया, वह रुका। फिर सभापति को उन्हें सौंपते हुए उसने कहा — जी हाँ, पैदल जा रहा हूँ। स्टेशन ढाई मील ही तो है। देखिए, इन चीज़ोंको काँग्रेस-दफ्तरमें रख लीजिएगा।

सभापति उठ खड़े हुए। जयराजने बिदा ली और कुछ लोग उसके साथ-साथ चले।

जयराजने कहा - आप बैठें-बैठें।

किन्तु लोग उसके साथ ही रहे। वह निःशब्द तेजीसे बढ़ने लगा और धीरे-धीरे लोगोंका साथ छूट गया। वह एक साँस बढ़ता हुआ स्टेशनपर आया।

पर गाड़ी निकल चुकी ही थी। वह प्लेटफार्मकी बेंचपर बैठ गया। बैठा रहा, बैठा रहा—

'...थोड़ी देरमें रात हो जायगी।' उसने सोचा। 'मुझे रातमें बेकाम क्यों अपने स्थानसे दूर रहना होगा? अब गाड़ी साढ़े ग्यारह बजे जायगी। मैं क्यों अपने भाषणमें वक्तका ख्याल नहीं रख सका? भाषणका मेरे लिए नशा क्यों है?...यह मैंने ठीक किया कि माला और स्वागत-गान काँग्रेस-दफ्तरमें रखनेके लिए छोड़ आया और कह आया हूँ। क्या उस गीतके नीचे उसके हस्ताक्षर हैं? उनकी कोई वहाँ आवश्यकता नहीं है। राष्ट्रको दी हुई भेंटपर अपने नामकी मुहरकी कोई जरूरत नहीं है। मैंने उसे देख ही क्यों न लिया? किन्तु मैं समझता हूँ, सुदर्शना,- हाँ, वह सुनयना भी हो सकती है, सुलोचना भी हो सकती है— इतनी लड़की नहीं होगी कि अपना नाम वहाँ अवश्य रक्खे। यदि उसका नाम अपने हस्ताक्षरोंमें वहाँ है, तो, तो इसमें सन्देह है कि वह फिर काँग्रेस-दफ्तरके लायक चीज़ है। तब वह मेरे यहाँ रह सकती थी, या, और किसीके यहाँ रह सकती है।

'. ठहरो, नौ बजे इन लोगोंने काँग्रेस-कार्यकर्त्ताओंकी सभा बुला ली है। मैं यहाँ स्टेशनपर पाँच घंटोंका क्या बनाऊँगा? लेकिन वह लोग गलती करते हैं कि मुझे बिना पूछे मेरे आसरे सभा बुला लेते हैं और वक्त क्या बुरा है, नौ बजे!'

वह उठकर प्लेटफ़ार्मपर टहलने लगा। टहलता रहा, टहलता रहा, और वापिस फिर बस्तीकी ओर चल पड़ा।

चलते-चलते वह कातर हो-हो आया —

'बस्तीमें हजारों घर हैं। हजारों प्राणी उनके नीचे बसते हैं। ओ मेरे घट-घट

रमते राम, मुझे शक्ति दे, मैं तेरे अनुरूप घट-घटमें खो जाऊँ, जन-जनमें बसूँ ! मैं किसी एकका होकर नहीं रहना चाहता। कोई भी एक विशिष्ट रूप मेरा नहीं है। जब इस हरीपुर नगरमें जा रहा हूँ, तब समस्त हरीपुरके प्राणोंके लिए मेरा प्राण हो। दरिद्रातिदरिद्र, निम्नातिनिम्न, हीनातिहीन उनके प्रति मैं अधिक-से-अधिक प्रदत्त बनूँ। इस नगरमें मेरे लिए विशिष्ट कोई नहीं। मेरे राम, कोई नहीं है।' वह मानो प्रण करता हुआ चला—

'विशिष्ट कोई नहीं है, कोई भी नहीं है।'

*   *   *   *

शामसे ही कुछ बादलोंके आसार थे। नैऋत्यसे ठंडी वायु उमड़ रही थी और दूर क्षितिजके पास काले नागके सप्त-फणसा बादल शनैः-शनैः ऊपर उठ रहा था।

कांग्रेस-कार्यकर्त्ता लोग दफ्तरमें जमा थे। जयराजने वहाँ पहुँचकर सभाके अध्यक्षसे कहा— लीजिए, रेल नहीं मिली और मैं आपकी सेवामें उपस्थित हूँ।

अध्यक्ष अति धन्य हुए। उन्होंने कहा—आइए, आइए।

जयराजने कहा—आप अपनी सभा जरा जल्दी कर लें, और जो लोग आनेवाले हों उन्हें बुला लें। मेरी गाड़ी साढ़े ग्यारह बजे जाती है न? दस बजेतक मैं सभामें सहयोग दे सकता हूँ। तबतक आपकी सभा क्यों न हो जाय?

सभापति महोदयने कहा—जी हाँ, मैं अभी बुलाता हूँ। लेकिन आप रातको ठहर सकें तो अच्छा है।

"जी नहीं। रातको किसी तरह नहीं ठहर सकता।" जयराजने कहा—"लेकिन आप सभा शुरू कीजिए। मुझे मुझपर छोड़िए।"

नौ बजेके लगभग सभा शुरू हुई। उस समयतक हवा आँधी हो चली थी। और बादल सारे आसमानपर छा भरा था। और बिजली भी बीच-बीचमें तड़कती थी। सभा हो रही थी और कुछ लोगोंका ध्यान जयराजके गम्भीर प्रवचनसे हटकर हठात् उस प्रकृतिकी हुंकारके अर्थकी ओर जा रहा था। परन्तु जयराज अशेष रूपसे प्रस्तुत विषयमें दत्तचित्त था।

हालकी खिड़कियाँ काँपने लगीं, गड़गड़ाहट बढ़ गई। उस समय जयराज कह रहा था—

"...कांस्ट्रक्टिव वर्क ही वर्क है। हमें राजनीतिज्ञ नहीं चाहिए, सेवक चाहिए।

सेवक अपनेको सेवामें खो दे। अपनेको खोनेका अर्थ अपने प्राण-रसको जनताके मूलमें सींच देनेका है। भूखेके साथ, बेरोजगारके साथ अपनेको मिला देनेकी कोशिश हमें करनी है। भूखेको खाना, बेकामको काम और आशङ्कितको ढाढ़स हमें देना है। चर्खा यह सब देता है।...”

और, बादल घुमड़ रहे थे, बिजली कड़क रही थी, और वक्त बढ़ रहा था। बीच-बीचमें कुछ भारी-भारी बूँदें भी टप्प, आ टपकी थीं। इसी समय अनायास घड़ीकी ओर देखकर उसने अध्यक्षसे कहा—देखिए, किसी सवारीका इन्तज़ाम हो सके तो।

अध्यक्ष धीमेसे बोले – बादल बहुत हो रहे हैं। मैं आदमीको भेजता हूँ।

सभा चलती रही और आदमीने सूचना लाकर दी कि घटा घनघोर है, सवारी हो तो जायगी, पर गाड़ीवाले दो रुपया माँगते हैं। सभापतिने उसे चुप करते हुए कहा—अच्छा-अच्छा, रुपयेकी क्या बात है। (जयराजसे) सवारी हो जायगी। मँगवा दी जावे!

“जी हाँ, मँगवाइए, बस दस होते हैं।”

उस आदमीको गाड़ी ले आनेके लिए फिर भेज दिया गया और सभा चलती रही।

किवाड़ खड़-खड़ खड़कते थे। हवा साँय-साँय करती थी। वह किवाड़ोंको थपेड़से उधेड़कर भीतर घिर आना चाहती थी। अँधेरा कालेपर काला था जिसको बिजली और घोर कर जाती थी। और दुनिया घरोंमें बन्द थी।

जयराजने घड़ीकी ओर देखा। दसपर पाँच मिनट हो गये, दस हो गये, अब पन्द्रह भी हो जायेंगे। उसने सभापतिजीसे पूछा—सवारी आ गई?

उन्होंने कहा – अभी आदमी लौटा नहीं।

जयराजने व्यस्त भावसे कहा—‘तो ठहरिए, मुझे चलना चाहिए।’ और वह उठ खड़ा हुआ।

लोगोंने कहा – देखिए तो साहब, बाहर क्या हाल है? आज यहाँ रहिए, सबेरे चले जाइएगा।

जयराज मुस्कुराया। मानो कहा—वर्षा और हवा हमें मोड़े तो हम कैसे कृत-संकल्प? कैसे राष्ट्रकर्मी?

इतनेमें उस आदमीने आकर जवाब दिया कि गाड़ीवाला बादलोंकी ओर देखकर जानेको तैयार नहीं है। वह पाँच रुपये माँगता है।

"क्या?" जयराजने साश्चर्य कहा—"गाड़ीके रुपये काँग्रेसको देने होंगे? नहीं-नहीं। तब तो मैं पैदल ही जाऊँगा।"

बात उसकी पूरी तरह खत्म न हुई थी कि तड़-तड़ चोट देकर बाहर के टीन-पर ओले गिर चले।

लोगोंने जयराजकी ओर देखा। जयराज प्रसन्न मालूम होता था। उसने कहा— ओहो, ओले गिर रहे हैं! (सभापतिकी ओर मुड़कर) दो कम्बल मुझे दीजिए और एक छतरी। दे सकेंगे?

सभापति परिपक्व अवस्थाके पुरुष थे। जयराज अभी युवा था। उन्हें विचार भी आया कि क्या वह पिताकी भाँति आगे बढ़कर उस लड़केको मूर्खतासे नहीं रोक सकते? लेकिन जयराजकी ओर देखकर उनका आत्मविश्वास उड़ जाता था और वह प्रार्थी ही हो रहते थे। उन्होंने कहा—आप सबेरे जावें तो?

जयराजने कहा—दो कम्बल दे सकते हैं तो आप दे दें। आपकी कृपा होगी।

कम्बल लिये। एकको बदनसे लपेटा, दूसरेको ओढ़ा, छतरी सम्हाली और जयराजने कहा—अच्छा, आप लोग मुझे इजाजत दें।

उसके कहनेके साथ ही एक पैने तीरोंकी नोंक-सी बूँदोंकी बौछार हवाकी बाढ़के साथ आकर टीनको उधेड़ गई!

जयराज अनायास कुछ ठिठक गया।

'...हरीपुरमें आखिर यह रात वह क्यों बिता नहीं सकता? सबेरा होते ही यहाँसे चला जा सकता है...।' किन्तु तभी उसने सभी लोगोंकी ओर मुँह करके दोबारा कहा—"अच्छा वन्दे।" और स्थिर डग बढ़ाकर दरवाज़ेके बाहर हो गया।

× × +

उसी हरीपुरमें एक छतके नीचे कुछ और भी घट रहा था।

सुदर्शनादेवीने माला जयराजके गलेमें डाली, स्वागत-गान पढ़ा, उसको चरणोंमें चढ़ा दिया और उन चरणोंको प्रणाम कर अपनी जगहपर आ बैठी। इसके बाद जयराजका उसने भाषण सुना। खद्दरका मोटा कुर्ता, मोटी धोती, उन्नत ललाट,

निर्भीक और संकल्पयुक्त वाणीके साथ जयराज भाषण करता रहा, तब सुदर्शना उसे सुनती रही, और नहीं भी सुनती रही। देखती रही और नहीं भी देखती रही।

जयराज बीचहीमें मण्डपसे उठकर बाहर चला गया। सुदर्शना अपनी जगह ही बैठी रही। जब आसपासकी और सब स्त्रियाँ उठकर चलने लगीं तब वह भी उठकर चल दी।

वह जयराजको क्या जानती है? मालूम नहीं, क्या जानती है। कांग्रेस-नेताकी हैसियतसे जो वह है, उतनेका तो परिचय सार्वजनिक सम्पत्ति है। सो उसको भी प्राप्त है। उसके आगे भी यदि कुछ जानती है तो पता नहीं। आज पहली बार उसने इन जयराजको देखा है।

सभामेंसे जब सब उठीं तब वह भी उठकर चलती चली आई। चलती चली ही आई। घर आकर एक चटाईपर बिना कपड़े बदले बैठ गई। फिर एकाएक माथे-पर दोहत्था मारकर वह वहाँ औंधी लेट गई। उसने अपने मनको वहाँ मसोस-मसोस लिया। पर समझ न पड़ता था, वहाँ क्या उठ रहा है।

कुछ भी उसके निकट स्पष्ट होता ही नहीं था। दो-एक बार उसने अपना सिर भी चटाई पर दे-दे मारा, पर तो भी उस आग हो रहे सिरकी समझमें कुछ नहीं आता था।

बहुत देरतक ऐसे पड़े रहकर वह उठी। हाथ-मुँह धो लिया, कपड़े बदलकर निरी धौली एक साड़ी पहन ली। पहनकर अपने पतिकी तस्वीरके सामने घुटनों जा बैठी। उस चित्रके आगे उसने भक्तिपूर्वक अपना मस्तक नवाया। और उसके बाद भरे-से आते हुए कलेजेको लेकर घरके काम-धन्धेमें लग गई।

संध्याके भोजनके अनन्तर वह अपने पतिके कमरेमें गई। पति आरामकुर्सीपर लेटे हुए सिगार पी रहे थे और धुआँ देख रहे थे। उन्होंने मूछोंमें ही मुस्कुराकर कहा—आओ। कैसे आईं?

वह आती-ही-आई और आल्मारीकी ओर बढ़ गई। खोलकर उसे देखने-भालने लगी, मानो इसीके लिए वह आई थी।

"क्या चाहिए?"

पत्नी कुछ धर-उठा करती ही रही और चुप रही।

पति फिर टाँग सामने फेंककर सिगार पीने लगे और धुआँ देखने लगे। थोड़ा

देर बाद सुदर्शना उनके सामने आकर एक कुर्सीकी पीठको पकड़कर खड़ी हो गई। कुछ देर खड़ी रही और पतिको पता न चला। सुदर्शनाने कहा—मुझे तुमसे एक बात कहनी है।

आँख खोलकर सामने खड़ी सुदर्शनाकी पूरी मूर्तिको देखकर पतिने कहा-कहो।

सुदर्शनाने कहा—तुम मुझे क्या समझते हो?

पतिकी समझमें एकाएक यह बात नहीं आई। सामने कुर्सीकी पुश्तको पकड़कर खड़ी होकर भारी चेहरेसे जब पत्नी पूछती है—'तुम मुझे क्या समझते हो,' बिना भूमिका, बिना प्रस्तावनाके जब वह एक-टूक यही पूछती है कि 'तुम मुझे क्या समझते हो?' तब उसे क्या समझना होगा? पतिने कहा मैं तुम्हें अपने प्रेमकी प्रतिमा, प्राणकी प्राण, घरकी रानी, आँखकी पुतली समझता हूँ, मेरी रानी; और क्या समझता हूँ?

और उन्होंने जोरसे सिगारमेंसे एक दम खींच लिया और मुँहको गोलाकार बनाकर धुँएको कुण्डलाकार रूपमें छतकी ओर धीमे-धीमे उड़ा दिया।

पत्नीने कहा—मैं पतिव्रता नहीं हूँ।

क़हक़हेके साथ पतिने हँसकर कहा—तुम मेरी रानी हो, मेरी मलका, मेरी ज़ारिना!

"आजसे पहले मैं यह नहीं जानती थी। आज जानी हूँ, तो तुमसे कहने आ गई हूँ।..."

पतिका सिगार हाथोंमें रहा और वह सामने मानो उड़ गये हुए धुएँमें खोये, गुम हो रहे।

"...तुमसे मैंने बहुत प्रेम पाया है, बहुत आदर लिया है। वह सब मैंने चोरी की है। ठगी की है। मैं उसकी मालिक बननेवाली कोई न थी। मैं अपात्र थी। आज मुझे पता चला है कि अपना सब कुछ मैं तुमपर नहीं वार चुकी। भीतर-ही-भीतर कुछ बच गया था जो, आज देखती हूँ, तुम्हारे चरणोंमें मैं अर्पण नहीं कर सकी थी।...यों न देखो...मुझे देखो। मैं तुम्हें धोखा देती रही। तुमसे पाती सब कुछ रही, देनेमें चोरी करती रही।..."

पतिने किं-विमूढ़ भावसे कहा—क्या है? क्या बात है?

"बात कुछ नहीं है। मैं अब तुम्हारे प्रति चोर नहीं रहूँगी। विश्वासघातिनी

नहीं रहूँगी। तुमने मुझे इतना दिया, उस सबके लिए मैं ऋणी भी तो नहीं हो सकती, कृतज्ञ भी तो नहीं हो सकती। क्योंकि वह सब मैंने ठगाई की है। लेकिन अब जाननेके बाद तो मैं कुछ भी लूँगी तो जलूँगी। मैं पतिव्रता नहीं हूँ। आज मैं तुम्हें यही बताती हूँ कि मैं पतिव्रता नहीं हूँ।..."

अविश्वस्त, किंतु संतप्त पतिने कहा—

"तो क्या है? पतिव्रता नहीं, तो तू क्या है?"

"...मैं तुम्हारे घरसे निकाल देने लायक हूँ। मैं सच कहती हूँ, जान-बूझकर मैं तुम्हें धोखा देनेवाली न थी। लेकिन यह मुझे आज ही मालूम हुआ कि मैं पूरी तरह तुम्हारी नहीं हूँ, कि मैं पूरी तरह समर्पित नहीं हूँ। सो आज ही तुम्हारे सामने खड़ी हूँ कि मुझे काला मुँह कर जाने दो। अपनी कृपाके नीचे मुझे एक क्षण भी मत टिकने दो। तुम अपनी कृपाकी छाया तो उठाओगे नहीं, तब मुझे ही इजाजत दो कि मैं उसे कलंकित न करूँ।..."

"सुदर्शना! सुदर्शना!!"

"जानकर मुझसे तुम्हारा अमंगल न होगा। तुम्हारे प्रेमको मैं जूठा न बनाऊँगी। तुम्हारे प्रेमको मैं विफल नहीं कर सकती। तुम्हारे-से पतिको पाकर मैं घरको आनन्दसे भरा क्यों न रख सकी? घरपर क्यों सदा उदासीकी छाया आ-आ मँड़राती रही? क्यों हमारे घरमें शून्यता जमी रहती थी जब कि वहाँ पूर्णता उमगी रहनी चाहिए थी? कारण मैंने आज जाना है। मेरे समर्पणमें त्रुटि थी, मेरे पातिव्रतमें शल्य था। मेरे मनमें चोरी थी, चलनमें खोट थी। अब मैं तुम्हारे दानको लांछित नहीं करूँगी।..."

"सुदर्शना! सुदर्शना!!"

"देखो, बादल गरजता है। आसमान काला है। बिजली तड़पती है। मैं आज इसी काली दुनियाँमें चली जाऊँगी, आसमान ऊपर होगा, धरती नीचे। और मेरा हृदय और उसके भीतरका पाप-पुण्य मेरे साथ। मेरे कलंककी छाया मुझतक ही सिमटी रहेगी, मुझे ही डसे रहेगी, वह छूनेको न बढ़ेगी।"

पति कुर्सीसे उठ आया, कुर्सीकी पुश्तपर रखे हुए पत्नीके हाथोंपर अपने हाथ रखकर और उसकी आँखोंमें देखते हुए उसने कहा—

"सुदर्शना, मुझे बताओ क्या है? इस तुम्हारे धड़कते हुए दिलको मैं समझना

चाहता हूँ, समझ नहीं सकता। मैं नहीं समझता, आत्मा। मैं नहीं समझता, धर्म। मैं नहीं समझता, सदाचरण। लेकिन मैं समझता हूँ, प्रेम। सुदर्शना, मैं तुम्हें प्रेम करता हूँ। जानता हूँ, तुम मेरी समझसे बाहर रही हो। मुट्ठीकी पकड़में समाई नहीं हो। तुम मुझे सदा बचा ही गई हो। लेकिन सुदर्शना, मैं तुम्हें प्रेम करता हूँ। मैं शराबी हूँ, ठीक है। मैं ऐबी हूँ, ठीक है। मैं झूठा हूँ, ठीक है; लेकिन मैं तुहें प्रेम करता हूँ। सुदर्शना, तुम यह जानती हो। मैंने कभी पातिव्रतके बारेमें पूछा है? मैंने क्या कभी अपनेको उसका हकदार समझा है? मैंने क्या अपनेमें उसकी लियाकत पैदा की है? कुछ चाहूँ, इससे पहले मैं अपनी तरफ़ बिना देखे कैसे रहूँ? मुझे नहीं चाहिए कुछ, सुदर्शना! बस, तुम मुझे प्रेम दो। प्रेम न दो, तुम मेरे प्रेमकी स्वीकृति भर दो। तुम देखोगी, मेरी शराब भाग जाती है, ऐब छूट जाते हैं, झूठ उड़ जाता है। सुदर्शना, मैं तुमसे कम बोला। तुमसे अलग-अलग रहा। क्योंकि मेरा मुँह न खुलता था। मुझे हिम्मत न होती थी। क्योंकि मैं जानता था—मैं खोटा हूँ। लेकिन तुम छूटने या छोड़नेकी बात करोगी तो खोटा दिल भी थोड़ा-बहुत तुमपर अपना दावा बताना चाहेगा, सुदर्शना। आज इस गरजते आसमानके नीचे खड़ा होकर मैं कहता हूँ, तुमपर मेरे पतिपनका कोई दावा नहीं है। मेरे प्रेमका ही जो समझो दावा है। और वह प्रेम किसी तरहकी कैफियत तुमसे नहीं माँगता। मैं असभ्य हूँ, व्यसनी हूँ, दुराचारी हूँ। मैं माने लेता हूँ, मैं हूँ। लेकिन तुम्हें मैं नहीं छोड़ सकता हूँ। तुम छोड़ना भी चाहो, तो भी एक बार तुम्हारे हाथ जोरसे पकड़कर मैं कहूँगा—'मैं नहीं, मैं नहीं छोड़ सकता'।"

सुदर्शनाके आँसू एक-एक कर टपकने लगे। पतिकी भी वाणी भर्रा गई थी और चश्मेके नीचे उसकी भी आँखें सजल हो आई थीं।

सुदर्शनाने कहा—मेरे स्वामी, मुझे भरोसा है, सब कुछ अच्छा ही होगा। आपके प्रेमको मैं स्पर्श नहीं कर सकती, यह मेरा ही दुर्भाग्य है। मैं कैसे उसे छूनेका साहस करूँ, जब कि मैं उसके प्रति दानमें चूकती हूँ। नहीं, ऐसा मैं नहीं कर सकूँगी। (ओले तड़-तड़ पड़े, दरवाज़ेके शीशोंपर वे छर्रोंसे आकर लगे।) स्वामी, तुमने मुझे कब टोका है? (घुटनों बैठकर) मैं जानती हूँ, तुम्हारा प्रेम वह है, जो तुमसे अलग होती हूँ तब भी मुझे नहीं रोकेगा। मैं—"

सुदर्शनाने पकड़नेके लिए पतिके पैरोंकी ओर हाथ बढ़ाया—पतिकी आँखें सूनी

थीं। पत्नीके हाथकी उँगलीका स्पर्श उसके पैरको हुआ कि अतिशय विपन्न भावसे पतिने जोरसे अपने पैर खींच लिये। वह तेज चालसे कमरेमें चलने लगा। चलने लगा और चलने लगा। चलते-चलते अंतमें एक आलमारीमेंसे बोतल खींची, गिलास लिया और मेजके सामने बैठ गिलास-पर-गिलास पीने लगा।

सुदर्शना आँसूभरे नैनोंसे धीरे-धीरे उठी और कमरेसे बाहर निकल गई।

* * *

अँधेरी रात है। बूँदें पड़ रही हैं। बादल घुमड़ रहे हैं। सब सुनसान है। बिजली अपनी चमकसे अँधेरेको और घना करके छिप जाती है। और जयराज सिरपर छतरी ठहराये, कम्बल ओढ़े, लम्बे डग बढ़ाता हुआ चला जा रहा है। छतरी बेकाम हो चुकी है। फिर भी सिरपर है। कम्बल पानीसे भीगकर भारी हो रहा है। और जयराज चला जा रहा है। बस्तीके भीतर ही एक चौराहेपर एक बिजलीकी कौंधने उसे दिखाया—कोई स्त्री भीगती हुई सड़कके किनारे खड़ी है। पास पहुँचकर जयराजने कहा—कौन हो, बाई?

तबतक गुप अँधेरा हो गया था। उस अँधेरेमेंसे ही सुदर्शनाने कहा—स्टेशन जाना चाहती हूं। कोन सड़क जाती है?

जयराज नहीं पूछ सका, वह कौन है, क्यों इस समय स्टेशन जाना चाह रही है? उसने कहा—मैं स्टेशन ही जा रहा हूँ।

इतना सुनते ही वह आगे बढ़ आई और जयराजके साथ हो ली।

उस समय एकाएक जयराजके मनमें उदय हो आया कि ओले-पानीमें, अँधेरे एकान्तमें, दुनियाको आराममें बन्द और सोती छोड़कर उसका साथ पकड़, स्टेशन चलनेवाली यह नारी सुलोचना अथवा सुनयना अथवा सुवदना नहीं है। वह तो कोई विशेष विशिष्ट ही है जो किसीकी प्रतिनिधि नहीं है, मात्र स्वयं है। और वह भी भारत-राष्ट्रकी सेवामें समर्पित अगण्य सेवकोंमेंसे एक नगण्य सेवक नहीं है जो जय-राज न होकर प्रियराज अथवा बलराज हो सकता है। नहीं, इस सहस्रों नर-नारियोंकी बस्तीके बीचोबीच निर्जन चोराहेपर, जिसकी ओरसे जगत् बेखबर है और बन्द है, इस झरते आसमानके नीचे और आप्लावित पृथ्वीके वक्षपर, वह देश और राष्ट्र, सेवा और साधना, इन सबसे ऊँचा होकर विश्वात्माके समक्ष इस अकेली नारीके बराबर, अत्यन्त एक और अकेला, ठेठ और वास्तव जयराज होकर चल रहा है।

वह सब ओरसे मुक्त है, स्वयं है। इस अँधेरेके गर्भमें सब शंकाओंके बीचमें सारवान्, सब व्यर्थताओंके बीचमें अव्यर्थ।

और, सुदर्शना ? जयराजको जान लेनेमें उसने कब पलभर भी खोया है ?

जयराजने कहा—इधर छतरीके नीचे आ जाओ। बहुत पानी है।

सुदर्शना पास आकर सटी-सटी चलने लगी। 'कौन हो ?' 'क्या हो ?' 'क्यों ऐसी हालतमें हो ?—' ये प्रश्न भी कहनेके लिए ऐसे समय एक दूसरेके बीचमें हो सकते हैं, यह बात उन दोनों के मन किसी ओरसे उठकर आई ही नहीं। मण्डलाकार विश्वके बीचमें, अँधेरेमें ढँके, अस्पष्ट राहपर एक छतरीके नीचे वे ही दोनों बराबर-बराबर जा रहे हैं। वे ही दो हैं। वे ही दोनों आपसमें एकके लिए दूसरे हैं। चारों ओरका और सब साथ उनसे छूटा है।

तीसरा कहीं भी कोई और नहीं है। इतना वे जानते हैं। यही उनके लिए बहुत है। यही उनके लिए बस है। यहाँ उन्हें और क्या इष्ट शेष है ?...

चलते चलते जयराजने कहा—ओ ! तुम तो सारी भीग रही हो, लो यह कम्बल ले लो।

भीतर कमरसे लिपटा कम्बल खोलकर जयराजने उसे उढ़ा दिया। उस कम्बलको ओढ़कर वह चुपचाप फिर साथ चलने लगी।

पानी थोड़ी ही देरमें ख़ूब पड़ गया था। जगह-जगह उसकी सतहें बिछी थीं। सड़कपर छोटी-छोटी तलैयाँ बन रही थीं, वे बिजलीके प्रकाशमें थोड़ा हँस लेतीं और फिर अँधेरा उन्हें गँस लेता।

सुदर्शनाका पैर छपसे एक तलैयामें पड़ा। पानी उछलकर जयराजकी टाँगोंपर लगा। और सुदर्शनाने एक धीमी 'आयँ !' की।

"क्या हुआ ?"—जयराजने पूछा और वह रुक गया।

सुदर्शना चुप, पैर निकालकर ज़रा लँगड़ाती हुई फिर आगे बढ़ चली।

"मोच आ गई ?"

सुदर्शना, चुप, आगे बढ़ती ही चलती रही। जयराज भी दोनोंके सिरोंपर छतरी सम्हाले रखे चल रहा था। रुककर एकाएक उसने कहा—पैरोंमें जूते भी नहीं हैं ?

उसने अकस्मात् बिजलीके प्रकाशमें देखा था कि पैरोंकी उँगलियाँ बारीक-

बारीक और लम्बी हैं और वे नंगी हैं। वे पैर नन्हें गोरे-गोरे हैं, और चले नहीं हैं, यह भी अनायास उसे दीख गया।

सुदर्शना चुपचुपानी चलती ही गई। और देखा गया कि एकाएक जयराजकी चालमें भी तेज़ी आ गई। उसने मानो परुष पड़ जाकर कहा—जल्दी चलो, मुझे रेलसे जाना है।

सुदर्शना तेज़-तेज़ चलने लगी। उसका वह पैर लँगड़ा ही रहा था। किन्तु उस ओरसे हठात् मुँह मोड़कर जयराज तेज़ ही चलता रहा। कुछ देरमें चालमें एकाएक मद्धिम होकर उसने कहा—ओह! तुम्हें मोच आई है। मुझे माफ करना।

उसके बाद काफी दूरतक वे लोग निःशब्द, बन्द, एक छतरीके नीचे सटे-ही-सटे चलते रहे। वर्षा धीमी होती दीखती थी। बादल फट रहे थे। जहाँ-तहाँ वायुके स्पर्शसे राहके पेड़ोंके पत्तोंपरसे कुछ टप-टप बूँदें टपकती थीं। जुगनू मुँह चमकाने लगे थे। रात सन्नाटा भर रही थी। अँधेरेमें कम स्याही रह गई थी। और वे दोनों एक दूसरेकी साँस सुनते, मौन और मानो परस्पर अनपेक्ष्य चले जा रहे थे। स्टेशनके पासके सिगनलकी लाल-लाल आँखें दीख आईं। कहीं हरा-हरा भी कुछ दिखता था। मानो नींदके अँधेरेके पटपे टँगे रंगीन सपने हों।

"कहाँ जाओगी?"

चुप।

"मेरी गाड़ी साढ़े ग्यारह बजे चली जाती है!"

चुप।

"ओह, जाड़ा लग रहा है? वह स्टेशन आ गया। आज बहुत जाड़ा है। कम्बल ठीक लपेट लो। (सुदर्शनाके कम्बलको हाथ लगाकर) ओह, यह भी ख़ूब तर हो गया। ख़ैर! स्टेशनपर देखें आग-वाग कुछ मिलती है क्या? कम्बल भारी है? देखो, यों नहीं, इस तरह ओढ़ो।" और उसे कम्बल ठीक उढ़ा दिया।

सुदर्शना सब ओरसे छुटी, इस समूचे अँधेरे, सन्नाटे-भरे शून्यके बीचमेंसे निरुद्देश्य अनजानी राहपर जिसके साथ चली जा रही है, उसीके प्रति वह अपनेमें शंका कहाँसे लाये? वह चली ही जा रही है, शब्दहीन, सन्देहहीन, निर्व्याज और सम्यग्-भावसे, जिसे करनेको न प्रश्नकी आवश्यकता है, न उत्तरकी अपेक्षा है। जिसमें जिज्ञासाका अवकाश नहीं है। भवितव्यताके सम्बन्धमें किसी प्रकारकी आशंकाके

लिए गुंजाइश नहीं है। संपूर्ण, असंदिग्ध, निःकांक्ष और निश्शंक, वह चली ही जा रही है। कहाँ?—नहीं जानती। क्यों?—नहीं जानती। और जाननेकी इच्छा भी हो, इतना भर भी अभाव, इतना भी रिक्त उसमें नहीं है।

स्टेशनके पास पहुँचते-पहुँचते उसने कहा—आपकी गाड़ी साढ़े ग्यारह बजे चली जाती है?

* * *

बारिश रुक गई थी और हवा भी थमी थी। तीसरे दरजेके मुसाफिरखानेमें एक-दो व्यक्ति गठरी हुए पड़े थे। दफ्तरमें बाबू काउंटरपर माथा टेके ऊँघ रहा था। दफ्तरके बाहर एक बेंच पड़ी थी। भीतर तारकी डमी गट्ट-गर-गर कर रही थी। बाबूका सिर हथेलीपर टिका था और मुँहसे लार-सी निकल रही थी। वह कम्बलमें लिपटा था।

जयराज सुदर्शनाको बेंचपर बैठा छोड़कर दफ्तरमें आया। उसने कहा—बाबूजी!

बाबू सपना ले रहा था। उसने चौंककर आँखें खोलीं। मुँहकी लार पोंछी। तभी उसने पिछले स्टेशनसे रेलके छूटनेकी घंटी सुनी। और तभी सुना, एक आदमी कह रहा है—'बाबूजी!' उसने कहा—

"क्या है?"

जयराजने कहा—एक कम्बलकी ज़रूरत है। आप दे सकेंगे?

बाबूने अँगड़ाई ली, घड़ीकी ओर देखा, कम्बलको उतारकर अलग रखा और कहा—'नहीं है, बाहर निकलो।'

जयराजने कहा—सरदी ज़्यादा है। अभी बारिश हो चुकी है। कम्बल आपको लौटा दिया जायगा।

नींद-जड़ी मुद्रासे बाबूने कहा—'नहीं है, दफ्तरसे बाहर जाओ।'

जयराजने आगे बढ़कर कम्बल उठा लिया, कहा—"कम्बल तो यह है। तो आपका नहीं है? यह यहीं पहुँच जायगा", कहकर कम्बल लेकर जयराज चुपचाप बाहर निकल गया।

सुदर्शना बेंचपर बैठी सामने देख रही थी। रेलें बिछी थीं और आपसमें कटती-फटती जहाँ-तहाँ चली जा रही थीं। उनपर पानीकी चमक ठहरी थी, और

स्टेशनके धुँधले प्रकाशमें वहाँ कभी-कभी चाँदीकी किरनें बिछीसी लगती थीं। सुदर्शना कम्बल ओढ़े थी। भीतरके वस्त्र उसके भीगे थे। उसे सरदी लग रही थी और रह-रहकर वह काँपती थी। ओढ़े हुए कम्बलमेंसे भी पानी पार हो गया था, और वह बदनको ठंडा-ठंडा लगता था।

जयराजने कहा—कम्बल भीगा है, उतार डालो। लाओ, मैं फैला दूँ।

उसने कम्बलको हाथ लगाया और सुदर्शनाने उसे झट उतारकर अलग कर दिया।

जयराजने बेंचके पीछे उसे सुखा दिया और नया कम्बल सुदर्शनाके हाथमें देते हुए कहा—लो, इसे ओढ़ लो। कुर्ता गीला है, लाओ मुझे दो, निचोड़कर सुखा दूँ।

सुदर्शनाने सुना, कम्बल हाथमें लिया और बराबर बेंचपर रख दिया, ओढ़ा नहीं।

जयराजने एक-एक कर अपने सब कपड़े उतार दिये। वह सिर्फ धोतीके ऊपर बनियान पहने हुए था।

सुदर्शनाने कम्बल बराबरमें रख दिया और यह नहीं कहा कि कम्बल यह रखा है, तुम ओढ़ लो। और लटके हुए पैर बेंचपर लेकर गीली धोतीके पल्लेको तान, दोनों हाथोंके बीच अपना सिर लिये वह ऐसी बैठ गई मानो अब कुछ देखना नहीं है, करना नहीं है। जयराज व्यस्त होकर उसके पास बेंचपर आ बैठा, और कम्बल खोलकर उसे उढ़ाने लगा।

सुदर्शना मानो नींदमें थी, उसे कुछ जैसे पता नहीं चल रहा था।

जयराजने कहा--कुर्ता उतार दो और जरा लेट जाओ, आराम कर लो।

सुदर्शना मानो सुषुप्तिमें सब कुछ करने लगी। वह कुर्ता भी उतार देगी, लेट भी जायगी। उसने कुर्ता उतारकर अलग कर दिया और जैसे नींदकी झोंकमें वह झुकी पड़ने लगी। बीचहीमें सम्हाल लेकर जयराजने कहा—

"सुदर्शना, सुदर्शना! देखो गिर मत जाओ, ठीकसे लेटो।"

और सुदर्शना उसकी गोदमें ढुरक पड़ी।

जयराज न समझ सका कि क्या करे और वह अपनी उस गोदको यथावस्थित रखकर बेंचपर इस प्रकार बैठ गया कि अब तो मानो उसे उठना नहीं है। उसकी गोदमें यों पड़ी हुई असहायाको किस प्रकार हटा देकर वह यहाँसे उठेगा? वह इस

भाँति बैठ गया कि गोदवालीको कोई असुविधा न हो। सुदर्शना गोदमें गिर पड़कर, कुलबुला लेकर मानो वहाँ अपना स्थान ठीक करने लगी। पैर और हाथ चलाकर उसने कम्बलको ठीक-ठीक ऊपर ले लिया। कम्बल इस भाँति कुछ जयराजके ऊपर भी आ गया। घोंसलासा बनाकर वहाँ फिर अपनी जगहको ठीक-ठीक करके उसकी गोदमें जो चिड़िया चिपक सोई है, जयराज मानो थपका-थपकाकर उसे सुलाना चाहने लगा। उसने कहा--सरदी लगती है ?

सुदर्शना उत्तरमें गोदमें कुछ कुलबुलाकर और सिमट गई।

जयराज अत्यन्त उत्तिष्ठ होकर सामने देखता हुआ बैठा रहा।

उसके निर्वस्त्र गातपर कभी अत्यन्त शीतल कोमल-स्पर्श देहका स्पर्श होता था। वह देह मानो उसके गातपर अपनेको छोड़े दे रही थी। ऐसे समय उसके शरीरमें बिजली दौड़ जाती थी। तब वह जपता – राम, राम, राम, राम।

राम क्या है, उसने नहीं जाना। वह कभी नहीं जानेगा। पर रामके नामके जपको वह ऐसा कातर बनकर, ऐसा प्रार्थी बनकर थामे रहता मानो यही उसका अन्तिम सहारा है। वह जल्दी-जल्दी कहता—राम, राम, राम, राम।

चिड़िया घोंसलेमें अब आरामसे सोई पड़ी है। आरामसे ? हाँ, आराम जब कम होता है, वह कुलबुलाकर करवट ठीक कर लेती है। उसकी धोती भीगी है सही, पर कम्बलके नीचे उसे गर्मी भी मिल रही है।

जयराजको लगता है, इस भटक गई हुई चिड़ियाकी छातीको धड़कन उसे सुन पड़ रही है। उसे मालूम होता है कि उसे चैन मिल रहा है। उसे मालूम होता है कि उसकी अपनी देहमें भी गर्मी आ रही है। मालूम होता है कि उसकी देहमें उद्धतता भी चढ़ती आ रही है। कि···और जल्दी-जल्दी मन-मनमें वह कह रहा है—राम, राम, राम, राम।

सुदर्शनाने 'अँह' किया, 'उँह' किया, और इस बार जो उसने अपनी करवट ठीक की, तो दोनों बाँहें जयराजके इधर-उधर पड़ गईं और शरीरका उत्तर-भाग जँघाओंपर आरामसे टिक गया।

उस समय जयराजकी साँस तेजीसे आने-जाने लगी। वह सीधा उठकर भाग जा सकता तो भाग जाता। पर वह बालभर भी हिला-डुला नहीं। उस शरीरके कोमल दबावको और उस जीवित नारी-मांस-स्पंदनको जो श्वास-प्रश्वासके साथ नीचे-

ऊपर होता था, अपने ही शरीरपर सटा पाकर वह उस शरीरको निःस्पन्द, जड़, अचेतन बना देना चाहता था। पर——वह जप रहा है ——राम, राम, राम, राम।

इस जगतीतलपर हे राम, यह क्या है ? हे राम, राम, राम, राम।

इतनेमें प्लैटफार्मको हिलाती हुई रेल स्टेशनपर आई और जयराजकी आँखोंके सामने ठहर गई। जयराजकी गोदीमें पड़ी एक चिड़िया सुखकी नींद सो रही है। वह अब क्या करे ? इस गाड़ीसे तो उसे जाना है। रेलगाड़ियोंकी खिड़कियोंसे रोशनी आ रही है। रेलगाड़ीके उन कमरोंमें लोग सोये होंगे और सबेरा होगा कि वे अपने-अपने घर होंगे। उसमें बारिश भी नहीं जाती है और हवासे बचनेको खिड़कियाँ भी लगाई जा सकती हैं।

उसने मानो अपनी टाँग कुछ हिलाई। उसके मनमें आया कि वह कुछ कदम आगे बढ़कर एक दूसरे दरजेके डिब्बेमें पहुँच सकता है। वहाँ बिछा गद्दा होगा, जो सूखा होगा। हाँ, यह बेचारी भी क्या दूसरे दरजेकी बेंचके गद्देपर अधिक आराम नहीं पायेगी ? कुछ मिनटोंमें फिर कहाँ रहेगा हरीपुर और कहाँ रहेगा स्टेशन। उसने मानो चाहा कि उसे जगा दे और कहे कि देखो, रेल आ गई है, चलो, चलें। लेकिन मानो उसने सहसा ही अपनेको सावधान कर लिया। वह स्थिर-दृष्टिसे रेलको देखता रहा, जो उन दोनोंको आराम भी दे सकती है और छुटकारा भी दे सकती है। वह रेल अभी चल देगी और बात-की-बातमें हरीपुरसे दूर हो जायगी। उसने अपनी गोदमें सोई हुई नारीको देखा। मानो पूछना चाहा—क्या तुमको सोना ही है ? क्या मेरी गोद सदा इसी तरह बनी रहनेको है ? क्या तुम्हें कहीं आना-जाना नहीं है ? रेल आई है, उठो, खड़ी होओ।

लेकिन वह चिड़िया आरामसे साँस लेती हुई वहीं पड़ी रही।

जयराजने अपनेको कुछ समेटा-सा। उसने ज़ोरकी आवाज़ देकर एक आदमीको पास बुलाया और उससे कहा—भाई, बिलासपुरका एक टिकट ला सकते हो ? यह उसने इस तरह कहा कि सुदर्शनाको बिना सुनाई दिये न रहा। सुदर्शना इसपर गोदमें कुलबुलाई और उठ बैठी। बैठकर झट ऊपरसे कम्बल उतारकर अलग करते हुए उसने कहा लो।

जयराजने कहा—क्यों, क्यों ?

सुदर्शनाने उसी भाँति कम्बल उसकी ओरको अलग थामे रहकर कहा लो, तुम जाओ ।

उस समय जयराजको कुछ भी नहीं सूझा । वह सुदर्शनाको देखता रह गया । सुदर्शनाकी आँखोंमें न अभियोग था, न निराशा । वे आँखें कहती थीं कि वह कुछ नहीं है । और तुम जहाँ चाहो, चले जाओ । वह दुनियामें जी चाहे जैसे रह लेगी । तुम उसके लिए अपना एक पल भी क्यों खोओगे ? निरुपाय ?– तो रह लूँगी निरुपाय । लेकिन तुम अवश्य ही चले जा सकते हो । वह अपनी फैली बाँहोंमें कम्बल थामे अपनी इकहरी गीली धोतीमें बैठी है, कि लो और जाओ, और भगवान् तुम्हें सुखी रखे ।—मैं ? मैं सब ठीक हूँ ।

जयराजने कहा—क्यों, क्या बात है ?

सुदर्शनाने कहा—इस गाड़ीसे तुम्हें जाना है, तो लो ।

जयराजने कहा– कि कोई बात नहीं । दूसरीसे चला जाऊँगा ।

सुदर्शना कुछ क्षण तो देखती रही । फिर कम्बल खोल और उसे अपने ऊपर लेकर चुपचाप उस गोदीहीमें लेट गई ।

इतनेमें रेलने सीटी दी । वह सरकती जाने लगी । जयराज पराजित दृष्टिसे जाती हुई रेलको सामने देखने लगा । वह सामनेसे निकलती हुई चली गई । निकल जानेपर उसकी जगहमें समाकर अँधेरा फिर वैसा ही सुन्न खड़ा हो गया ।

उस शून्यको भेदकर टिकने योग्य आधार पानेके यत्नमें जयराज आँख गड़ाकर उस अँधेरेको देखने लगा । पर, वहाँ कुछ न था । शून्य सूना था, रेल निकल गई थी और सुदर्शना गोदमें सोई थी । यह वह कहने लगा—राम, राम, राम ।

रेलके निकल जाते ही उसे बेहद सरदी मालूम होने लगी । उसने हाथ मले, सीटी बजाई, सिर खुजलाया, फिर वह कम्बलके नीचे लेटी हुई सुदर्शनाके सिरको धीरे-धीरे थपकाने लगा ।

सोई-सोई सुदर्शनाने भीतरहीसे कूजकर कहा – 'कम्बल ओढ़ लो । सरदी बहुत हो रही है ।' और एक हाथसे उसने कम्बलको ऊपर उठा दिया । जयराजने भी कम्बलको अपने कन्धों तक ले लिया और उसके हाथकी उँगलियाँ कमर तक गये और फैले हुए सुदर्शनाके बालोंमें फिरने लगीं । उसकी उँगलियाँ अव्यवस्थित पड़े और ठंढे हो रहे बालोंको सुरझाती और उरझाती सुदर्शनाके सिरसे कटितक

और कटिसे सिरतक अलस-गतिसे फिर रही थीं और वह वेगपूर्वक राम-राम जप रहा था।

सुदर्शनाका शरीर उसके गातपर दबाव देकर चिपटता ही आया। तब उसने सुदर्शनाके बालोंमें घूमते हुए हाथोंको एकदम उठा लिया और वह सीधी निगाहसे अँधेरेमें देखने लगा। दुनियासे हटा और उसके विधि-निषेधसे मुक्त, दो घड़ी रुककर वहाँसे चले जानेके लिए जब सब आँखोंके अभावमें यहाँ वह स्टेशनकी बेंचपर बैठा है, तब क्या है जिसकी उसे आशंका हो ! क्या है, जिसे उसे रोकनेकी ज़रूरत हो ? क्यों नहीं निर्भय होकर सब कुछके प्रति वह अपनेको खोल देता है ? द्वन्द्व काहेका ? 'न'कार किसके प्रति ?

पर उसकी देही गरमा रही है और वह कह रहा है,—राम, राम, राम, राम।

सुदर्शना क्या चाहती है ? लेकिन, वह तो कुछ भी नहीं चाहती। वह सो रही है, क्योंकि यह सोनेका समय है, और उसकी आँखोंमें नींद है। वह गोदमें सो रही है, क्योंकि यह गोद उसके और बेंचके बीचमें आ गई है। एक-वस्त्रा होकर सो रही है, क्योंकि और कपड़ा भीगने पर सुखाने डालनेके लिए उससे माँग लिया गया है। वह तो इस अँधेरे पहरमें सोना ही चाहती है, क्योंकि यह सोनेका समय है, और उसकी आँखोंमें नींद है।

आजकी रातमें सब कुछसे छूटकर, आकाश और धरतीके बीचमें अपने लिए वह अकेली बन गई है। वहीं, उसी खोखले अज्ञातमें यह आदमी आ मिला है, जिसको इतना जानती है कि वह जयराज है। इसके ऊपर और नहीं उसे जानना मिला कि वह क्या है ? जयराजमें उसको क्या निषिद्ध है ? विधि-निषेध, इस सबसे तो वह परे हट आई है। किसके लिए अब उसमें अपनापन है कि किसीसे बँधने और किसी ओरसे हटनेका विधान उसके लिए भी हो ? जब कुछ उसने अपने लिए अनिवार्य नहीं रखा है, तब निषिद्ध भी क्या उसके लिए हो सकता है ?

इसलिए चिपट-चिपटकर कुलबुलाकर और करवटें ले-लेकर ठीक आरामकी व्यवस्था बनाकर वह इस गोदमें लेटी है।··· हम पूछें, क्यों बालक माकी गोदके साथ अधिक-से-अधिक घनिष्ठ न हो ? बालकके आरामपर कौन उँगली उठा सकता है ? उसमें लज्जा कहाँ है, उल्लंघन कहाँ है, उस रसमें मैल भी कहाँ है ?

और सुदर्शना जयराजकी गोदमें लेटी है, क्योंकि दुनिया दखल देनेको उपस्थित

नहीं है और यह समय सोनेका है। उसमें बाधा कहाँ है? अविश्वास कहाँ है? उसने चिन्तापूर्वक कुलबुलाकर उस गोदमें अपने अतिशय आरामकी व्यवस्था कर ली है। उसने वहाँ तकिया भी बना लिया है, गद्दा भी पा लिया है और रजाईकी गर्मी भी उसने बना ली है। जगसे टूटी, अतीतसे परोक्ष, सब तरहके नातोंके अभावमें वह निरी शावक, निरी चिड़िया बनी यहाँ आरामसे सो रही है। कल क्या था,—राम जाने। कल क्या होगा,—नहीं हिसाब। अगले ही मिनट क्या हो जायगा,—नहीं प्रतीक्षा। कैफियत उसे कहीं भी पहुँचानी नहीं है। वह अतीतसे दबी नहीं है, वर्त्तमानसे शंकित नहीं है, भविष्यसे प्रार्थी नहीं है।

जो है, है। वह उसीमें सम्पूर्ण है, उसीमें उपलब्ध है। वह आरामसे सो रही है। और यह समय सोनेका है।

उसने कूजकर पूछा—तुम्हें नींद नहीं आ रही है?

जयराजने अँधेरेमें आँख फाड़कर देखनेकी कोशिशसे हैरान होकर, इस मानो अपने ही भीतरसे आते हुए प्रश्नको सुना। जैसे दूरसे, फिर भी बिलकुल पाससे कहीं कोई पूछ रहा है,—'तुम्हें नींद नहीं आ रही है?' उस समय मानो अपनेसे झगड़कर उसने उत्तर फेंका,—नहीं, बिलकुल नहीं।

किसीने फिर कूजा - रात बहुत हो गई है।

जयराजने जैसे आगे बढ़ती आती हुई चुनौतीको ललकारके साथ स्वीकार किया हो, कहा—हाँ, रात बहुत हो गई है।

इन शब्दोंकी ध्वनिके भीतर भरे अप्रेम और परुषताने मानो सुदर्शनाके भीतर पहुँचकर चैनसे कूज उठे उसके जीको ठोकर दी। वह उठकर बैठ गई।

"क्यों, क्यों?"

बोली—मैं बैठ जाती हूँ। तुम इतने में लेट लो।

जयराजने सुदर्शनाको देखा। उन आँखोंमें न अभियोग था, न निराशा। उनमें कुछ भी माँग न थी, स्निग्ध स्वीकृति ही थी। किन्तु जयराज फिर भी अपने आप एक व्यर्थताके बोधसे घबरा-सा गया। यह नारी उससे कहे—"मैं बैठती हूँ, तुम लेट जाओ?" उसने रूखे पड़कर कहा—"नहीं, मुझे नींद नहीं है।"

सुदर्शनाने थोड़ी देर बाद धीमेसे पूछा – क्या बजा होगा?

"साढ़े बारह तो हो गया होगा।"

"बहुत सरदी है।"

"हाँ, बहुत सरदी है।'

कुछ देर हो गई और दोनों चुप रहे। तदनन्तर धीमे स्वर में सुदर्शना बोली—

"तुम लेट न जाओ, मैं कहती हूँ।"

मानो सुदर्शनाके भीतरकी माताने यह कहा।

इस निर्व्याज भावसे प्रकट हुई सुदर्शनाकी सत्-चिन्ताने जयराजके व्यर्थ भावसे कठोर हो रहे चित्तको हलकेसे छू दिया। जयराजके भीतरका तनाव मानो एक साथ ही ढील गया। उसने बिलकुल ही बदल गई हुई वाणीसे कहा – नहीं, नहीं···।

सुदर्शना कहना विचारती थी कि खाली बेंचपर मैं आरामसे सो जाऊँगी, तुम मेरी फिकर न करो। लेकिन 'नहीं, नहीं' कहती हुई जयराजकी इस स्निग्ध वाणीके प्रति वह ऐसी कृतज्ञ हो उठी कि उसके मुँहसे यह बात निकल ही न सकी।

उस समय दोनोंके भीतर यह एक साथ ही उदय हो आया कि इन दोनोंके बीच किसी प्रश्न और किसी उत्तरकी अपेक्षा नहीं है। इन दोनोंमें किसी परिचयापेक्षाका भी व्यवधान नहीं है। दोनों जैसे कालके आदिसे चिर परिचित हैं, चिर अभिन्न हैं। कि दोनोंके बीचकी वाणी मौन है और शब्द झमेला है। शब्द मात्र अपने आवरणके ही लिए है। जब अपना सामना करते कठिनता होती है, जब यत्नपूर्वक अपने प्रति विमुखता अपनानी होती है—तब बीचमें मानो अन्तर डालनेके लिए वह भाषा और ये शब्द हैं। और ये दोनों तो मानो वहाँ पहुँचकर परस्परप्राप्त हैं जहाँ शब्द मौनमें ऐसा खोया है जैसे बूँद सागरमें।

सुदर्शना कृतज्ञतामें विभोर हो गई और एक क्षण भी बैठी न रहकर फिर जयराजकी गोदमें उसी भाँति गिर गई और उसी मिनट सो गई।

उस समय जयराजके आग्रहग्रस्त पौरुषमें हठात् स्निग्धता आ गई और उसने प्रतीति पाई कि सुदर्शना ऐसी अछूत नहीं है, ऐसी भूत नहीं है कि रामनाम के जापसे उसकी छूत भगानी ही हो। उसके भीतरके तने हुए बन्धन शिथिल हो आये और स्नेह-स्निग्ध, उसने सुदर्शनाके सिरको थपकते हुए कहा—सुदर्शना, तुम क्या सोचती थी कि मैं तुम्हें याद करता हूँगा?

सुदर्शनाने कहा—हमें नींद आ रही है।

यह सुनकर जयराजके मानस तथा शरीरके स्नायुओंका उत्तेजन एकदम अनावश्यक

होने लगा। तब उत्तरोत्तर स्वस्थ और अनुद्विग्न और अकुण्ठित भावसे सुदर्शनाको गोदमें लिये रहकर उसके बालोंमें वह अपने हाथ फेरता रहा।

सुदर्शनाने थोड़ी देरमें कहा—सोते नहीं हो?

जयराजने उसका सिर थपकाकर कहा—नहीं, मुझे नींद नहीं आ रही है।

कुछ देर बाद उसने भी पूछा—सुदर्शना, तुम सोती हो?

सुदर्शनाने मानो आधी नींदमें कहा—हमें जी नींद आ रही है।

सुदर्शनाके सिर और गालपर धीरे-धीरे थपककर जयराजने कहा—अच्छा, तुम सोओ—कम्बल ठीक ओढ़ लो।...सुदर्शना, मैं अभी सोचता था; मैं तुमसे कहूँ कि आओ, यह रात हम जागे-जागे काट दें। आओ, हम बातें करें कि रात सबेरेसे मिल जाय। लेकिन तुम सोओ। मैं स्वार्थी नहीं बनूँगा।

सुदर्शनाने कुनमुनाकर कहा - हमें जी नींद आ रही है।

"हाँ, हाँ, तुम सोओ।"

जयराज कहने लगा—मैं नहीं जानता था सुदर्शना, मुझमें तुम अभी हो और तुमसे इस तरह मिलकर अपने भीतरवाली तुमको मुझे पा लेना है। और इस तरह तुम्हारे द्वारा ही मैं अपनेको ज्यादा पाऊँगा, मैं नहीं जानता था। अकेला चलता रहा। आशा हार-हार रहती थी और जीवन रेगिस्तान लगता था। लेकिन फिर फिरकर मैं राष्ट्रके नामको पकड़ लेता रहा और चला चलता रहा। मैं चलता ही चला आ रहा हूँ। मैंने पीछेकी तरफ नहीं देखा, आगे राष्ट्रको रखकर वहीं आँख गाड़ मैं भागता रहा। जी हारता और मैं आँख मींच लेता। मैं कहता—'राष्ट्रदेवो भव।' कोई हिम्मत देनेवाला न था, न कोई ढाढ़स बँधाता था। कोई न था जिसमें अपनेको बाँट लेता, कोई न था, जो कहता, चले चलो, मैं भी हूँ। सब थे जो कहते थे, आइए, व्याख्यान दे जाइए। कोई न था जो कहे, आओ, पानी पी लो। चला चलूँ, यह सबको अभीष्ट था। चलनेका सामर्थ्य और हौंस देनेवाला कोई न था। लेकिन यह झूठ था। अपनी पीठकी तरफ़ कैसे कोई भाग सकता है। लेकिन मैं यही करता रहा। अपनेसे मुँह मोड़कर पाखण्ड करता रहा। अपनेको इन्तजार करनेसे क्या चलेगा, सुदर्शना!

करवट बदलते हुए सुदर्शनाने कहा—हमें जी नींद आ रही है।

"हाँ। सोओ, सोओ, सुदर्शना! मुझे माफ करो।" और वह आग्रहपूर्वक चुप हो गया।

उसने देखा, आधीरात बीत गई है। बादल उड़ गये हैं, तारे आँख खोल-मींचकर दुनिया को देख रहे हैं।

उसने कहा—सुदर्शना, सोती हो?

नींदमें सुदर्शना कुनमुनाई—उँ-उँ-ऊँ!

"सुदर्शना, मैं राष्ट्रके लिए जिया। लेकिन जीवन-रस तो मुझमेंसे चुकता ही गया। कहाँसे विसर्जित करनेके लिए प्राण पाता रहा, मैं नहीं जानता था। लेकिन अब तो जानता हूँ। सुदर्शना, तुम युग युग जीओ। जहाँ रहो, सुखसे रहो। हम क्या उस स्रोतको जानते हैं, जहाँ हमें जीवन-रस मिलता है? लेकिन वहाँ स्नेह है, यज्ञ है। अब मैं देखता हूँ, मैं कभी अकेला न था। सदा ही अमृतसे रक्षित मैं चलता रहा। सुदर्शना.. तुम सोती हो?"

सुदर्शनाने जैसे गाढ़ी नींदमें कुनमुनाया—उँ-उँ-ऊँ!

"सोओ, सुदर्शना, सोओ। जयराजने उसके गालोंपर थपकते हुए कहा—"जहाँ रहो, सुखकी नींद सोओ। एक रोज मट्टीकी गोद भी होगी। लेकिन, मैं कहता हूँ, वहाँ भी तुम सुखी रहोगी। मैं अनन्त जीवन नहीं मानता। न अनन्त प्रणय मानता हूँ। लेकिन मेरे लिए तो प्रणयका क्षण भी अनन्त है। सत्य जीवनका क्षण भी शाश्वत है।···क्या पतिको छोड़कर यहाँ आ गई हो? किन्तु स्नेहमयीके लिए भगवान् कहाँ नहीं है? और उसके लिए वर्ज्य क्या है? नियम कहाँ है? मैं आज जानता हूँ, यज्ञाहुत स्नेह सदा विजयी होता है। वह बन्धन तोड़ता है, क्योंकि वह मुक्तिदाता है। वह कभी असंयत नहीं है। क्योंकि सदैव वह निर्धन है, निर्बन्ध है।..."

सुदर्शनाने बेचैन एक करवट ली।

"सुदर्शना, सोओ सोओ। मैंने अपने स्नेहको अस्वीकार करना चाहा। मैंने उसे इन्कार कर नष्ट कर देना चाहा। आज तुमने मुझे सीख दी कि यह सब वृथा था। मेरा अहंकार था। इस अहंकारमें मुझसे यज्ञ क्या बनता? राष्ट्र-सेवा क्या बनती? आज मैंने जाना, स्नेह अंगीकरणके लिए है, अस्वीकरणके लिए नहीं।···सुदर्शना, सोओ, सोओ।"

फिर उसने तारोंकी ओर देखा। ये तारे सैकड़ों बार उसने देखे हैं। आज जैसे वे तारे उसके बिलकुल निकट, बिलकुल अपने ही हो गये हैं। उनमेंसे एक-एकको

मानो 'तुम' सम्बोधनसे पुकारकर पूछना चाहता है—"जयरामजीकी, भाई ! कहो, तुम हँस रहे हो, अच्छे तो हो !"

उसने कहा—सुदर्शना, सोती हो ?

सुदर्शना कुलबुलाई और अपने दोनों ओरसे कम्बल समेटकर सटा लेनेके लिए वह उठना-सा चाहने लगी।

"क्या है, क्या है ?"

"अहँ, इधर जाने कहाँसे हवा ठण्ढी-ठण्ढी लगती है !"

जहाँ बताया गया उधरसे जयराजने टटोलकर देखा। टाँगोंके पासकी धोती बहुत गीली थी, और वहाँ बेंचमेंकी दराजोंसे हवा आकर बेहद सर्द लगती थी। बोला—ओ हो, धोती तो बेहद भीगी है !

ऊपर अनवगुण्ठित तारे खिले थे। काला व्योम तना था। और नीचे धरती स्थिर और नग्न, तारोंकी आँखोंके नीचे खुली और मग्न बिछी पड़ी थी। इस महा-व्योमके तले स्त्री क्या है, पुरुष क्या है ? आवरण क्या है और निवारणता भी क्या है ?

वे सब एकदम कुछ नहीं हैं। मात्र सुदर्शना सुदर्शना और जयराज जयराज है। इस बोधके अतिरिक्त किसी भी और तुच्छताके लिए वहाँ अवकाश न था।

उसने कहा—सुदर्शना, धोती उतार डालो। सूखे हिस्सेकी तह करके मैं नीचे बिछाये देता हूँ, तब सो जाना। यह कहकर वह अपेक्षा करने लगा कि धोती उसे मिले और वह तह करके उसे बिछा दे।

सुदर्शनाने उठकर उसकी ओर देखा—

निकट था कि जयराजको अपने शब्दोंमें कुछ अनौचित्यका भान हो आये कि तभी सुदर्शनाने मानो झींककर धोती अलग करते हुए कहा—हमें नींद आ रही है, हाँ तो।

जयराजने तुरन्त उठकर धोतीकी तह कर दी और सूखे हिस्सेको ऊपर रखकर बिछाते हुए कहा—लो, अब लेट जाओ।

कहकर वह चलने लगा। सुदर्शनाने अपनेको सर्दीसे अच्छी तरह ढकते हुए पूछा—तुम कहाँ जाते हो ?

"मैं जरा वक्त देख आऊँ। अभी आया।"

"नहीं..."

"अभी आया। मैं अभी आया।"

"नहीं, नहीं..."

जयराज आकर बेंचपर सुदर्शनाके पास बैठ गया। तब सुदर्शना अनायास उसकी गोदमें ढुलक गिरी। जयराजने अत्यन्त निराविष्ट भाव और हल्के चित्तसे हँसकर कहा—क्यों जो, तुम्हें यह ख़याल नहीं होता कि मैं बैठे-बैठे थक भी सकता हूँ?

सुदर्शनाने करवट बदलते हुए किया—ऊँ-ऊँ-ऊँ-ऊँ।

इस कुनमुन कुनमुन कूजती हुई जयराजकी गोदमें पड़ी चिड़ियाको क्या यह मालूम है कि यह स्टेशन है, स्टेशनका प्लेटफार्म है, प्लेटफार्मकी बेंच है और यह कि न वह चार सालकी बच्ची है और न चोंच-परवाली चिड़िया ही है? क्या उसे मालूम है कि यह स्टेशन, यह प्लेटफार्म, यह बेंच और यह जयराज उसी दुनियाके अन्तर्गत हैं, जहाँ विधि-निषेधका असद्भाव नहीं है और जहाँ उचित अनुचित भी है, हया-शर्म भी है। पर, हमें नहीं मालूम। इतना हम जानते हैं कि धोतीके बिछ जानेसे सर्दी सचमुच रुक गई है और वह कूजती और कुनमुनाती बड़े सुखसे गोदीमें सोई है।

...अरे ओ, ढके-ढके मानव, जो दूसरेकी आँखसे अपनेको ढकता है, सूरजकी धूपसे अपनेको ढकता है, हवाके स्पर्शसे अपनेको ढकता है, सचकी जोतसे अपनेको ढकता है, अरे क्यों, कपड़ोंसे लदा-लदा ही क्या तू सभ्य है? कपड़ोंको उतारनेके साथ-साथ क्या तेरी सभ्यता, तेरी संभावना तिरोहित हो जायगी? क्यों रे, लदे-ढके मानव?...

लेकिन सुदर्शना गीली धोतीको अलग करके कुनमुन-कुलबुल करती हुई जयराजकी गोदमें पड़ी है। और जयराज अपने हाथके स्पर्शसे उसे गर्मी दे रहा है।

जयराजने कहा—सुदर्शना, सोती हो?

सुदर्शनाने किया—ऊँ-ऊँ-ऊँ।

"मेरी गाड़ी चार बजे और जाती है।"

"ऊँ—ऊँ—ऊँ।"

"दो बज गया होगा!"

फिर वही—"ऊँ—ऊँ—ऊँ ।"

"सुदर्शना, अब तुम क्या करोगी ?"

"ऊँ—ऊँ—ऊँ ।"

सुदर्शनाके गालपर, कुछ रीझमें और कुछ खीझमें, थपकते हुए जयराजने कहा—अच्छा, सोओ सुदर्शना ! मत ही सुनो और सोती ही रहो ।

और तारे, उज्ज्वल, अगणित, बुँदियोंसे तारे, काले व्योमपर खिले टँके थे । और धरती अनावृतवक्षा, प्रमदाकी नाईं प्रतीक्षामें थकी उनके नीचे चुप सोई थी ।

*　　　*　　　*

सबेरा होने लगा। पक्षी चहचहा आये । तारे खो गये । उस समय सुदर्शना जागकर उठी । जयराज बेंचकी पीठपर सिर टेके ऊँघ रहा था । प्लेटफार्म सुनसान था । उसने धोती उठाकर पहन ली, कुर्ता पहन लिया, फैले हुए कम्बलोंको तहाकर बेंचपर रख दिया। उसके मनमें न अभाव था, न अभियोग । जैसे अब उसे कुछ पाना शेष न था । सबेरा उसे प्यारा लग रहा था और उसके मनमें पूर्णता उमगी आ रही थी । किसीके प्रति उसमें धिक्कारका लेश न था । उसने सोते हुए जयराजको देखा । जिसकी गोदमें अभी वह शावककी भाँति पड़ी थी, उसीके लिए उसके हृदयमें एक मातृत्वका-सा भाव हिलोर ले आया । वह सोचने लगी कि क्या मैं अपनी गोदमें तकिया देकर, कम्बल उढ़ाकर इस बेचारेको नहीं सुला ले सकती ? किन्तु इसमें इसकी नींद भंग हो जायगी ।

वह इस रातके गर्भमेंसे फटते उठते प्रभातको देखने लगी । उसके मनका सब संशय भाग गया । अभाव विलय हो गया । अशेष प्रश्न, उसका जी मानो चारों दिशाओंको एक साथ अभिवादन देना चाहता है । सब ओर उसे प्रीति, सब ओर उसे मंगल है । इस प्रभातकालीन उषाके प्रकाशमें उसने जयराजको देखा । कौन उसके लिए आज वर्जित है, कौन उसके लिए निषिद्ध है। किसके साथ पार्थक्य उसके लिए अनिवार्य है । 'अरे कोई नहीं, कोई नहीं ।' उसका हृदय मानो चारों दिशाओंमें आलिंगन-प्रसार करता हुआ आवाहनका गान गा उठा । मानो बाँहें फैलाकर उषासे, वनस्पतिसे, आकाशसे सबसे वह चाहने लगी 'मुझे लेओ, मुझे लेओ । मैं अस्वीकृति नहीं दूँगी, अस्वीकृति नहीं लूँगी । सब मुझमें आ जाओ । और सब मुझे लेओ, मुझे लेओ ।'

उसका मन स्वच्छतासे भरता ही गया। उसे सामने मानो सब कुछ सद्यःस्नात, ताजा, प्रस्तुत प्रतीत होने लगा। प्लेटफार्मके किनारे जाकर समानान्तर बनी प्रतिकूल दिशाओंमें मानो अनन्त दूर जाती हुई उन लोहेकी रेलोंको वह देखने लगी। मानो इनसे भी उसकी मैत्री है। मानो इनसे भी वह चिर-रहस्य और उसका वह चिर-रहस्याधिप अनुपस्थित नहीं है। इसमें भो वह रम-रम रहा है।

जयराजकी आँख खुली। उसने देखा, गोद खाली है, और उसके पास दो कम्बल तहे हुए रखे हैं, एक उसके कन्धोंपर उढ़ाया हुआ है। उसने देखा, तड़का काफी फूट चुका है। उसे ख़्याल हुआ—उसकी चार बजेकी गाड़ी!! वह झपटकर उठा, कुर्त्तेको बाँहमें डाला और देखा - एक ओर, दूर, सुदर्शना प्लेटफार्मके पास खड़ी है। उसने निकट जाकर कहा—सुदर्शना!

सुदर्शना ईषत्स्मितसे मुसकुराई—तुम उठ गये! देखो, कैसा सुहावना है! और उसने प्राचीकी लालिमाकी ओर संकेत किया।

जयराजने कहा—सुदर्शना!

सुदर्शनाने कहा—कम्बल मैं रख आई थी—

जयराजने कहा—सुदर्शना!

वह पूछना चाहता है कि, सुदर्शना, अब?

किन्तु सुदर्शनाके भीतर सब प्रश्न शान्त हो गये हैं। उसने कहा—'कम्बल वहाँ रखे हैं न?'

जयराज चुप।

सुदर्शना जयराजकी वाग्बद्धताको अन्यथा नहीं समझ सकी। किन्तु स्नेह तो यज्ञ है। इसमें मेरा-तेरा कहाँ है? इससे स्नेहको लेकर समाजमें उलझन कैसे पैदा की जा सकती है? उसने कहा—जयराज मुझे कुछ आज्ञा देना चाहते हो?,

जयराज इतना हो कह सका—"सुदर्शना!" और चुप रह गया।

सुदर्शनाने कहा—मैं जानती हूँ, तुममें मेरे लिए अपेक्षा नहीं है। जयराज, यही अनपेक्षता सब कुछ है...। मैं अब जाती हूँ।

"कहाँ?"

"जाती हूँ।"

अब जयराज क्या पूछे कि—'कहाँ?'

" मेरा प्रणाम लो जयराज, और मेरा आशीर्वाद लो। क्योंकि एक बात मैं तुम्हें बताती हूँ। मैं इसी वर्ष माता हो जाऊँगी। प्रभु तुम्हें सदा सुखी रखें।"

जयराजने पुकारा—"सुदर्शना!"

सुदर्शना नहीं ठिठकी, सो नहीं; पर जयराजके चरण छूकर प्रस्थानोद्यत उसने कहा—मैं जाती हूँ।

जयराजने पाया, वह कह रहा है—"जाओ," क्योंकि वह और कुछ भी नहीं कह सकता है।

" प्रणाम—"

—और, वह जयराजके सामने-सामने पीठ मोड़कर प्लेटफार्मके किनारे-किनारे फूटती ऊषाकी ओर बढ़ती चली गई, बढ़ती चली गई।

जयराज देखता रहा, देखता रहा। फिर लौट आया।

———

मास्टरजी

२

जबसे लड़के जानते हैं, स्कूलके सेकेण्ड मास्टर मोशा बाबू ही हैं। पूरा नाम है, महामहिम घोषाल। अवस्था चालीस वर्ष होगी। पक्का रंग है और बड़े विनोदी स्वभावके जीव हैं। लड़कोंको 'मोहामोहिम' कहनेमें दिक्कत होती है, इससे उन्होंने छोटा नाम रखा है, मोशा बाबू।

बङ्गाला देश छोड़कर यहाँ अलीगढ़ जिलेके अतरौली कस्बेमें यह घोषाल महामहिम कैसे आ गये, इसकी कथा कहनेमें बहुत-सी उपकथाओंको छोड़ना कठिन हो जायगा। संक्षेपमें यह समझ लो कि जब एफ० ए० पार हुआ, पिता ऊपरसे उठ गये, आगे पढ़ाईका सुभीता न रहा, माताके बहू पानेकी जल्दी मचानेसे बहू घरमें आ गई और बहूका मुँह देखनेके बाद माता शीघ्र धराधामसे प्रयाण कर गई, तब महामहिमने अखबारोंके कालमोंसे पते ले-लेकर चारों ओर दरख्वास्तोंके तीर छोड़ने शुरू किये। महीनों बाद जो तीर ठीक बैठकर फलोत्पादक हुआ, वह डाकसे अलीगढ़ जिलेके अतरौली कस्बेपर छोड़ा गया था। तबसे अपनी बहूके साथ महामहिम यहाँ ही बसे हैं।

बहूका नाम है, श्यामकला। वह श्यामा उतनी नहीं है जितनी कलासे सन्नद्ध। अपनी श्यामताको कलाद्वारा ऐसा कुछ वह सँवारती है कि उजला रङ्ग पानी भरे। दस वर्षकी अवस्थामें श्यामकलाका महामहिमसे परिणय हुआ और तेरह-चौदहकी होगी जब देश छोड़ वह स्वामीके साथ इस अतरौलीमें आकर मास्टरनीजो हुई।

पर, उसको भी दिन हो गये हैं, और अब जब महामिहम चालीसके हैं, तो कलावती श्यामा भी बीससे दोइक वर्ष ऊपर ही है, कम नहीं। मास्टरजीने बड़े लाड़-प्यारसे उत्सुकतापूर्वक उसे बढ़ाया है। उनके सामने-सामने वह नन्हींसे किशोरी, किशोरीसे षोड़शी और षोड़शोसे अब युवती हो गई है। महामहिमने पतिके प्रेमसे

भी अधिक माताके प्रमसे उसे पाला है। उसे खिलौने ला-लाकर दिये हैं और गरई मच्छीके मुण्ड तल-तलके खिलाये हैं। अपनेको दुनियामें समर्थ पाया, तभीसे अपने सामर्थ्यद्वारा पोषणीया अपनी वधूको उसने अपने घरमें पाया है। मा जब जल्दी ही ऊपरसे उठ गईं, तब बाहरसे गिरस्तीके योग्य सामान जुटाने और घरके भीतर भी सब-कुछ सँवारने और सँभालनेका काम उसपर आ रहा है। यह अबोधा, अनजान, एक अतिरिक्त कामकी ही भाँति उसपर रही है। वह सबको निबाहता चला आया है। इस निर्वाहमें उसे रसका सर्वथा अभाव भी कभी नहीं प्रतीत हुआ है। कभी यदि कुछ प्रत्याशा मनमें उठी है, तो वह सोच लेता रहा है कि यह बरस बीतते-बीतते तो हमारी श्यामा सारी गृहस्थी अपने ऊपर ले-लेने ही वाली है। बस, कसाला कुछ ही रोजका है।

श्यामकला भी एक-एक कलाके उदयके साथ निखरती ही आई है। नन्हींसे वह धीरे-धीरे करके मनमोहिनी होने लगी है। पहले खेलती थी, अब बाल काढ़ती है। वह तरह-तरहके बाल काढ़ना जानती है। वह चाहती है कि उसके स्वामी देखें कि वह अब बच्ची नहीं रह गई है। देखें कि वह कैसे भाँति-भाँतिके बाल काढ़ती है, और बदल-बदलकर नये कपड़े पहनती है। महामहिम आते हैं तो कहते हैं— ओ हो,--श्याम कलानिधिसों सोहै—

श्यामा सुनकर नाराज हो जाती हैं। वह क्या सदा बहलानेकी ही चीज़ है !—वह सोचती है।

महामहिम कहते हैं— कामकली-सी जो श्यामकलीजी, कहिए।

श्यामा अत्यन्त क्रुद्ध हो जाती है।

स्वामी कहते हैं—क्या बात है ?

और वह रूठकर चली जाती है।

तब स्वामी देखते हैं--चूल्हा ठण्डा है, रसोईमें कोई तैयारी नहीं है। उस समय वह लकड़ी-कण्डा लेकर चूल्हेको चेतानेके जतनमें लगते हैं। खाना बन-बना चुकता है, तब अन्दर जाकर कोठरीमें चादर लिये पड़ी हुई पत्नीसे कहते हैं—चलो, खाना खा लो।

वह चादर जोरसे चिपटाकर कहती है—हटो, हटो; मुझे भूख नहीं है।

महामहिम कहते हैं—मैंने मच्छीका झोल बड़ा स्वादिष्ट बनाया है, चलो तो।

करते-करते श्यामकला चलती हैं, भोजन करती हैं, और चौकेकी सार-सँभाल करके महामहिम स्कूल चले जाते हैं।

किन्तु यह तो जब अतरौली आये-आये थे, तबकी कथा समझनी चाहिए। अब वह बात नहीं है। अब श्यामकला बच्ची श्यामा नहीं है। अब एक पहाड़ी नौकर भी घरमें है, जो रोटी-बासन सब काम करता है। श्यामकला अब और भी अच्छे बाल काढ़ना जानती है। महीन व नफ़ीस कपड़ेकी अब ज़्यादा अच्छी पहचान है। पहनती भी उन्हें अब कहीं ज़्यादा अच्छे सलीकेसे है। वे कपड़े उसपर अब बेहद अच्छे खिलते हैं। लेकिन अब वैसी हरएक बातपर वह तुनक नहीं जाती। अब वह महा-महिमको ऐसे नहीं देखती कि मैं अब रूठी, अब रूठी। अब तो उसके चलनमें धीरज रहता है और आँखमें, कहो, आशा। अब तो भागती वह नहीं है, जैसे कुछ सामनेकी ओर बढ़ना ही चाहती है। अब तो तनिक भी महामहिमको झिकानेकी बात वह नहीं सोचती। नहीं, अब वह बहुत समझदार है। सोचती यह है कि रिझाना कैसे होगा। किन्तु यौवन क्या कुछ अपना हक न रखे? क्या अपने वर्तमान-में इतना पूर्ण, इतना मग्न वह न हो सके कि अतीतका रिक्त भर जाय? अब जब कि उसमें अपेक्षाशील यौवन है तब भी क्या अधिकारापेक्षिणी पत्नी वह न हो सकेगी?

पर यह मास्टर महामहिम लड़कोंको पढ़ा-पुढ़ाकर जब आते हैं तो आकर कहते हैं—कामकला-सी जो श्यामकला पुनि श्यामकले किधौं कामकले!

और श्यामकला इसपर फुँककर रह जाती है।

दिन-पर-दिन बढ़कर आती हुई यह श्यामकला किसी प्रकार वही नहीं है जो नन्हीं-सी थी, यह बात महामहिमको तो किसी क्षण सूझ पाती ही नहीं है। उसके निकट यह श्यामा स्नेहपोष्या न हो, क्या कभी भी ऐसा होगा?

* * *

मोशाय बाबूसे बालक खूब खुश हैं। उनकी अँगरेजीकी योग्यताकी मास्टरोंमें भी खूब धाक है, लड़कोंमें तो है ही। स्कूलमें अधिकतर अँगरेजी ही वह पढ़ाते हैं। उनके घण्टेमें, लेकिन, बालक पढ़नेसे ज़्यादा हँसते हैं। क्योंकि मोशाय बाबूको नाराज़ होना नहीं आता। हम तो यह कहेंगे कि जब उनसे गुस्सातक करते नहीं बनता, तो पढ़ाना तो क्या ख़ाक बनेगा? और यह अमिट सत्य ही समझिए कि जो स्वयं योग्य है वह मास्टर चलताऊ (Indifferent) ही है। शिष्यके पीछे डण्डा

तो उससे उठाते बनेगा नहीं, तब आप ही सोचिए, अध्यापकी उससे किस प्रकार बन सकेगी ?

क्लासमें मास्टर मोहामोहिम मोशाय बालकोंकी पाठ्यपुस्तककी कहानीके साथ कभी विलायतके इतिहासकी कहानियोंमें पहुँच जाते हैं। वहाँसे जाने क्या सहारा पकड़कर अपनी ही कथापर उतर आते हैं। तब कहते हैं—आमरा देश बंगाला हय। बहोत शुन्दर देश हय। उहाँ बोड़ा-बोड़ा फल होता हय। बंगाला भूमी बहोत जरखेज हय। रोकम-रोकमका उहाँ मीठाई होता हय। आमरा देशका इस्त्री लोग बेशी शुन्दर हय। आमरा बोहूका नाम तुम लोग जानता हय ? ओशका नाम श्यामकान्ता बोलो, के श्यामलोता, के श्यामकीर्ति, के श्यामकोला, के बोलो श्यामबाला। शब ठीक हय। रंग अलबत्त श्याम हय। किन्तु बहोत शुन्दर देखता हय। हामको बहोत धन दहेजमें देता था, हाम नहीं लिया। आमरा बोहू बहोत बोड़ा घरका हय। हामको बहोत प्यार करता हय··· ।

बालक ये कथाएँ सुनकर बड़े प्रसन्न थे। किताबका जब कि एक भी शब्द उनके मनपर न ठहरता तब देश बङ्गालाकी तरह-तरहकी मिठाइयाँ और भाँति-भाँतिके फल मानो उनके सामने वहीं प्रत्यक्ष हो जाते थे। वे बालक मोशाय मास्टरके यहाँ काम-बेकाम भी पहुँचा करते और तरह-तरहके उपहार जाकर मास्टरनीजीको दिया करते थे। मास्टरनीजी भी बालकोंको प्यार करती थीं। इससे जब मोशाय मास्टर उनकी मास्टरनीजो का जिक्र उन्हें सुनाते तो उनको बड़ा अच्छा लगता था। लेकिन बालक कहते—मास्टरजी, किताब पढ़ाइए जी, किताब !

मास्टरजी कहते—ओ, तुम लोग बोदमाशी करता हय ! किताब पढ़ो ! किताब। तुम लोग फेल होगा तो आमरा नाक कटेगा। बोलो 'केसाबियंका' कौन था ? उसका क्या कहानी हय ?

थोड़ी देर पढ़ाई चलती और मास्टरजी कहते—तुम बंगाला देशमें कोलकाता शहरका नाम शुना हय ? बहोत बड़ा शहर। रोकम-रोकमका गाड़ी उहाँ चलता हय। रेल चलता हय, इस्टीमबोट चलता हय, ट्रामगाड़ी, मोटारगाड़ी, रिकशा गाड़ी बोगैरा बोगैरा बहोत रोकमका गाड़ी चलता हय। इस्टीमबोट तुम लोग जानता हय ? वह इस्टीमका जोरसे चलता हय। ऊहाँ हुगली दरिया हय। उसका ऊपर बहोत बड़ा पुल बना हय। हामने ओहींसे एफ० ए० पास किया। आमरा शादी उसके बाद हुआ।

हाम पहले उजला बोहू चाहता था। शादीका बखत आमरा बोहू दश बरसका था। आमरा बोहूका उज्जल रंग नेई परन्तु अति शुन्दर। आमरा बोहू खूब भोला।

बालक याद दिलाते—'मास्टरजी, कैसाबियंका !' और मास्टरजी एक साथ कठोर होकर कहते - ओ, तुम लोग खेल करना माँगता हय। खेल नाहीं चलेगा। शोबक पढ़ो, शोबक। तुम लोग फेल होगा, तो बहोत बुरा बात होगा। हेडमास्टर हामको बोलेगा। हाम बोलेगा लरका लोग बरा शितान हय।

यों श्रम-पूर्वक न पढ़ाते थे तो क्या, वैसे उनके विषयमें विद्यार्थी कमजोर नहीं रहते थे। विद्यार्थियोंका और उनका आपसमें बड़ा अपनापा हो गया था। मास्टरजी अपने घरकी छोटी-छोटी बातोंको लड़कोंके सामने ऐसे पेश किया करते थे मानो सलाह माँगते हों। अबोध बालक उन बातोंमेंसे और कुछ सार ग्रहण करते हों, न करते हों, मास्टरजीका स्नेह तो ग्रहण करते ही थे।

स्कूल मिडिल स्कूल था और अतरौली कस्बा भी बड़ा न था। हमारे मोशाय बाबूमें बहुत रब्त-जब्त बढ़ाने और बढ़ाकर खुद बढ़नेको सिफ़्त ज़्यादा न थी। पैंतीस रुपयेके यहाँ मास्टर लगे और तीन रुपये प्रतिवर्ष तरक्की पाते-पाते अब उनके पचास रुपयेसे कुछ अधिक हो गये थे। वेतनके रुपये पा लिये, लम्बी छुट्टी हुई तो कभी अपने देश बंगाला घूम आये; नहीं तो बालक विद्यार्थियोंमें और अपने सङ्गी मास्टरोंमें मिल-बोलकर ही वह रह लिया करते थे। कोई लड़का कभी उनका पानी भर देता, कभी और कुछ और काम कर देते। इस प्रकार मास्टरजी, बिना ज़्यादा फिक्र पाले और बिना ज़्यादा मेल-मुलाकातका परिग्रह बढ़ाये, अपने काममें नियुक्त, युवती श्यामकलाके भर्तार बने मजेमें जिये चलते थे।

* * *

किन्तु एक अवस्था ऐसी होती है कि व्यक्ति प्रेम पाये, इतनेहीसे उसका जी नहीं भरता। वह इस बोधको भी चाहता है कि यह प्रेम उसे मिल ही नहीं रहा है, प्रत्युत वह उस प्रेमको अपने बलसे खींच रहा है। यौवन इसी अवस्थाका नाम है। जो प्रेम निरपेक्ष होकर दानकी तरह दिया जाता है, उसका स्वीकार करना यौवनका अपमान भी हो सकता है। जिसे अपनी शक्तिका भरोसा है, वह दान कैसे ले सकेगा? उपार्जित अर्थ ही उसके लिए अर्थ है। यों विश्वकी समस्त सम्पत्तिमें भी उसे तृप्ति नहीं है।

श्यामकला जैसी भी हो, जो भी हो, इस ओरसे असम्बद्ध होकर जो प्रेम उसे दिया ही जाता रहेगा, क्योंकि दिया ही जाता रहा है, उस प्रेमको लेकर यौवन-गर्विता श्यामकलाका जी कैसे भरे ? जो विवश नहीं है, जिस प्रेममें उन्माद नहीं है, जिसमें चाहकी धार नहीं है, उसको यह श्यामकला कैसे समझ ले कि वह उसका अर्जित है, उसका अपना है, उसका स्वत्व है ? वय पानेपर क्या कन्या माता और पिताके सहज प्रेमसे बाहर नहीं बढ़ चलती ? क्या उसमें अपेक्षा नहीं जागती कि कोई प्रेम हो जो उसके बेटी या बहन होनेके कारण उसे स्वभावतः ही न मिलता हो, प्रत्युत उसके अपने ही कारण, उसके अपने ही जोरपर उसे मिले ? क्या उसे नहीं अनिवार्य चाह हो आती उस प्रेमकी, जो उसके रूप, उसके यौवन, उसके अत्यन्त स्त्रीत्वकी माँगके उत्तरमें विवश होकर उसमें खिंचा चला आये, जैसे आगमें पतङ्ग ? ऐसा प्रेम जबतक वयःप्राप्तको न मिले, तबतक पिता-माताके लाख स्नेहके होते भी क्या उसमें कुछ आकांक्षा, कुछ अभाव, कुछ कलक बनी ही नहीं रहती।

श्यामकलाको तो स्वामीकी ओरसे सदा ही सचिन्त प्रेम मिलता रहा है। वह नाराज हुई है तब भी उसे लाड़से मना लिया गया है। हँसी है, तब भी उसके साथ हँस लिया गया है। उसकी तबीयतकी सदा रक्षा की गई है। सदा ही सब बातोंमें उसे बहला रखा गया है। क्या वह इस स्नेहके मूल्यको नहीं जानती ? लेकिन—

लेकिन महामहिम अपने प्रेमको किस प्रकार कम गाढ़ा करे कि उसमें उद्वेग दिखाई दे ? वह प्रेमधारा उसमें क्या कभी रुकती भी है, जो गतिशील दीखे ? क्या वह कहीं उथली है, जो कभी उत्कट भी हो ? क्या उसमें द्वन्द्व है कि वहाँ विक्षिप्त फेनिल लहरें उठें ? तरङ्गहीन, कूलबद्ध, एकरस होकर ही तो प्रेम इस महामहिममें श्यामकलाके प्रति बह सकता है; क्योंकि वह उसमें गहरा होता गया है।

"यह क्या बात है कि वह मुझपर कभी नाराज भी नहीं हो सकते हैं ?"—श्यामकला सोचती है—क्यों वह नहीं मानते कि मैं पूर्ण स्त्री हूँ ? क्यों वह मुझे बहलाते ही हैं, धमकाते नहीं; जैसे कि मैं बच्ची ही हूँ ? मैं नहीं चाहती अच्छा पहनना, अच्छा रहना। फिर वह क्यों नये-नये कपड़े लाकर दिये जाते हैं ? और जब मैं उन्हें पहनती हूँ तब क्यों उनकी निगाहसे वे ही कपड़े नीचे रह जाते हैं ? क्यों मेरे साथ वह अपने पढ़ने-लिखनेकी और और तरहकी बातें नहीं कर पाते ?

क्यों ऊपरके मनकी और हल्की ही बातें मुझसे की जाती हैं ? क्यों मेरा उनके ऊपर कुछ ऐसा वश नहीं है कि मैं उन्हें फेर सकूँ ?···

और उनके यहाँ जो रहता है पहाड़ी नौकर, उसका हियाव होने लगा है कि वह श्यामकलाका ज़रा रोब न माने। उसकी सुनी वह अनसुनी कर देता है। जब श्यामकला झल्लाती है तो वह हँसना चाहता है। जब गुस्सेमें श्यामकला काँपने लगती है तो वह । आदमी उसके सामने मुँह बिराकर अपने रास्ते चलता चला जाता है !

श्मामकला उसकी खूब खबर लेगी।—एक तो कम्बख़त गुस्ताख हो गया है, उधर बालोंमें तेल डालकर कुल्ले भी काढ़ने लगा है ! उसको कपड़े क्या बना दिये हैं कि जेण्टिलमैन बना डोलता है ! उस पहाड़ी नौकरकी सूरत देखकर उसे चिढ़ हो आती है।

वह जोरसे चिल्लाई—महादेवा, ओ महादेवा !

महादेव उस उन्नीस-बीस वर्षके पहाड़ी छोकरेका नाम है।

"सुनता है कि बहरा हो गया है ?"

सामने आकर मुसकराते हुए महादेवने कहा—बहोजी, क्या होकुम है ? हम तो आपके होकुमका ताबेदार हैं।

बहूजीने कहा—नालायक, सुअर, पाजी, दूर हो मेरी आँखोंसे।

महादेवने हँसकर कहा—वहोजी, खफा काहे होती हैं ? हम हजूरका गुलाम हैं।

"बोदमाश, बालोंमें इतना तेल काहे डाला ?"

महादेवने अपनी धोतीका पल्ला उठाकर अपना सिर पोंछ लेते हुए कहा—"लो, बहोजी ! रिस मत होओ। अब कसूर नहीं होगा।" और कहकर वह फिर हँसा।

बहूजीने कहा - पाजी, हमसे हँसी करता है ?

महादेवने कहा—बेलकुल नहीं, बहोजी।

"हमारा धोती धोकर सोखा दिया ?"

"सुखा दिया।"

बहूजीने बेहद गुस्सा होकर कहा—कहाँ सोखाया ?

"आसमानपर सुखाया ।"

यह कहकर नलके नीचे पत्थरपर पड़ी धोतीको महादेव जाकर फींचने लगा।

श्यामकलाने गरजकर कहा—"बोदमाश !" और तैशमें फुफकारती हुई अपने कमरेमें चली गई।

महादेव धोती धोकर सुखा देता, और कोठरीमें जाकर कहता—बहोजी, सुखा दिया।

श्यामकला गुस्सेमें काँपकर रह जाती।

महादेव बहूजीके पैर पकड़कर कहता—बहोजी, खफा मत होओ।

बहूजी पैर झिटककर कहतीं—निकल जा तू मेरे यहाँसे।

—इस भाँति बहूजी और नौकर दोनों परस्पर निकट आते जाते थे।

श्यामकला इस उद्धत और जवाब देनेवाले नौकरसे झींककर भी भीतर-ही-भीतर गर्वका अनुभव करती है। इस नौकरके साथ वह मालिक है। इस नौकरको लेकर उसके अहङ्कारको तृप्ति मिलती है। वह तुष्ट होती है। आनन्द मिलता है। उसे कुछ अपनी सार्थकता अनुभव होती है। उसे लगता है, इस नौकरके सामने होकर वह अपने अधिकारमें भी कुछ है। वह कृपाकांक्षिणी नहीं है, अनुग्रहदात्री ही है।

* * *

और जब मास्टर महामहिम घरपर आकर अपनी किताबें यथास्थान रखकर पत्नीके सामने पहुँचकर कहते हैं–'कामकला-सी जो श्यामकला पुनि कामकला किधौं श्यामकला !' तब पत्नी चुपचाप अपने काममें ही रहती है, पतिका प्रेम-सम्बोधन उसको विना छुए हुए ही उसके ऊपरसे निकलता चला जाता है।

पति कहते हैं—मैं एक चीज तुम्हारे लिए लाया हूँ, चलो देखती हो ?

श्यामकला पूछ लेती है—क्या है ?

वह यह ऐसे पूछती है कि मानो नित्यकी तरह पूछती हो--'क्या हाल है।' यह नहीं कि मास्टरजी इस फीकेपनको नहीं समझते आ रहे, लेकिन वे और भी आग्रहपूर्वक कहते हैं—चलो देखो, क्या है।

श्यामकला चुपचाप उठकर साथ चली जाती है और देखती है कि पति उसके लिए साड़ीका एक ब्रूच लाये हैं। महामहिम पूछते हैं—कैसा है, पसन्द आया ?

श्यामकला कहती—अच्छा है।

मास्टरजी कहते—वह जो धानी साड़ी है उसपर लगाना, खूब खिलेगा··· और लो।

एक दोनेमें मावेकी गुजियाँ लेता आया था, सो दे दीं।

श्यामकलाको इस तरहकी बात बहुत बुरी लगती है।

उसने कहा – क्या तुमको यही लगता है कि मैं भूखी रहती हूँगी?

"नहीं, नहीं, प्रिये! अबके मैं देशसे कुछ सन्देश और रसगुल्ला मँगा भेजूँगा। यह पहाड़ी लड़का अच्छा खाना नहीं बनाता। मेरी कोई बात नहीं, मुझे सब चलता है। तुमको जिस बातकी जरूरत हो, मुझसे कह देना। खाना तुमको ठीक लगता है?"

"मुझे किसी चीज़की जरूरत नहीं है।"

महामहिमको यह सुनकर कुछ खुशी नहीं होती। वह चाहता है कि उससे जरूरतें खुलकर कही जाती रहें और वह उन्हें यथाशक्ति पूरा करता रहे। मानो इस भाँति वह प्रमाणित करना और देखना चाहता है कि श्यामकलाके प्रति उसका प्रेम पूर्ण है।

वास्तवमें श्यामकला उसके जीवनके साथ मिलकर ऐसी स्वतः सिद्ध अंश हो गई है कि उसके अभावपर कल्पना भी नहीं जाती। इससे उसके प्रति अपनी आकांक्षाका उन्हें अनुभव नहीं होता। जीवनमें श्यामकला उनके लिए आकांक्ष्य है, प्रार्थनीय है, यह समझ देखनेका उनपर अवसर नहीं आया। श्यामकला सदासे ही उनके निकट सुप्राप्त है, इससे उनके जीवनमें वह है, यह भी बोध लगभग उन्हें नहीं होता।

एक रोज जब एकाएक कमर में दर्द हो आता है तब उस कमरके अस्तित्वका हमें ठीक-ठीक बोध होता है। साधारणतया हम जीते ही चलते हैं, बिना यह चिन्ता रखे कि कमर भी हमारे है। अन्तमें एक दिन दर्द उठकर उस हमारी कमरको हमारे निकट ही प्रमाणित कर देता है।

मास्टर महामहिम स्कूलसे आकर कोशिश करके पत्नी श्यामकलाके साथ कुछ देर बहल लेते हैं, और फिर अपने दिनके क्रमको यथापूर्व चलाने लगते हैं। उनका अधिक काल स्कूली किताबों, स्कूली लड़कोंमें जाता है। जब घरमें नौकर है और

पत्नी वयस्का है, तब घरका कुछ भी अता-पता रखनेकी ओरसे वह निश्चिन्त हैं। जो होता है, हो ; वह वक्तपर स्कूल चले जायँगे, रात होते-होते फिर किताबें लेकर बैठ जायँगे और सबेरे जो वक्त मिलेगा उसमें भी किताबें सामने लिये रहेंगे। और ये स्कूलके लड़के भी बेवक्त और हर वक्त बस्ता लिये मास्टरके पास आ पहुँचते हैं। जो वक्त मिलता भी है, उसे वे खा जाते हैं।

जिस प्रकार स्वस्थ व्यक्तिको अपने शरीरके अङ्गोपाङ्गकी साधारणतया खबर नहीं रहती, वैसे ही स्वस्थ-प्रेम महामहिमको अपने गृहस्थ-जीवनके किसी विशेष भागको चिन्तापूर्वक अधिक आत्मदान करनेकी आवश्यकताकी खबर नहीं थी।

इस प्रकार अतरौली कस्बेके मिडिल स्कूलमें मास्टरी करते दस वर्ष होनेको आये, तब सहसा एक दिन पढ़ाकर लौटनेपर उन्होंने पाया कि घर सूना है, श्यामकला नहीं है! वह पहाड़ी नौकर भी नहीं है!

* * *

उन दिनों बालकोंकी छमाही परीक्षाके दिन निकट आ रहे थे। बहुत-से लड़के मास्टरजीसे पढ़ने आया करते थे। उस दिन मास्टरजीने खाना नहीं खाया था। याद ही नहीं आई थी कि खाना भी खाना है। अभीतक यह भी सुध उन्हें नहीं हुई थी कि खाना बनायेंगे, तब बनेगा। वह अपनी कोठरीमें बैठे थे, वहाँ बैठे ही रहे। वक्त बीतता गया और दिन ढलनेके बाद शाम आती गई। पर वह बैठे ही रहे। इतनेमें बाहरसे बालकोंकी आवाज़ उनके कानोंमें पड़ी—मास्टरजी, मास्टरजी!

मास्टरजीने अनायास कहा—'आओ भाई,' और वह लालटेन जलानेके लिए उठे।

बालक शोर मचाते हुए अन्दर आ धमके, बोले - वाह मास्टरजी, यह तो बड़ा अँधेरा कर रखा है, लाइए बताइए, कहाँ है लालटेन, जलायें।

मास्टरजीने कहा—लालटेन! देखो, चौकामें होगा।

दो बालक उधर गये। औरोंने कहा—मास्टरनीजी कहाँ गई हैं, मास्टरजी?

मास्टरजी बोले—आमरा नौकरका साथ अपना अम्माके गया हय।

बालकोंने कहा—वाह मास्टरजी, आपने हमको पहलेसे कुछ नहीं बताया। हम पहले अकार आपका सब काम कर देते।

मास्टरजीने कहा — हम शोचता था, हम काल बोलेगा। आमरा बोहू बहोत खराब है। हमारा पीछा चला गया।

बालकोंने आपसमें सलाह की कि मास्टरजीको कोई तकलीफ़ नहीं होनी चाहिए। वे लोग तैयार हुए कि पानी न हो तो भरकर रख दें या और जरूरत हो तो कर डालें।

जब कहींसे भी दियासलाई लेकर और लालटेन ढूँढ़कर उसे बालक जलाकर ले आये, तब मास्टरजी बोले - आओ, आओ, अब तुम लोग सोबक पढ़ो।

एकने पूछा — मास्टरजी, मास्टरनीजी कब आयेंगी?

मास्टरजीने कहा—कहने नहीं शकता···तुम लोग परीक्खामें पास होना माँगता हय तो खूब मेनत करना माँगता हय। तुम लोगोंका इम्तहानका कितना दिन बाकी हय!-दो हफ्तासे बेशी नहीं हय। तुम लोग शब अच्छा नम्बरसे पास होना माँगता हय। आमरा बोहू चला गया हय। हाम अब तुम शबको बेशी बखत दे सकता हय।

एक लड़केने कहा—मास्टरजी, कल मैं अपने घरसे सबेरे-शाम दोनों वक्त खाना लाऊँगा।

मास्टरजीने कहा — नहीं, नहीं; हाम खुद बनाना माँगता हय।

बालकोंने कहा — नहीं, नहीं; मास्टरजी! और वे अपनी-अपनी ओरसे उन्हें निमन्त्रण देने लगे।

मास्टरजीने कहा—आमरा बोहू वापिस लौटेगा तो बहोत गुशा होगा। बोलेगा; तुम यह क्या किया। अब तुम लोग सोबक पढ़ो; सोबक।

पढ़ाई होने लगी। पढ़ते-पढ़ते धीरे-धीरे लालटेनकी रोशनी कम पड़ने लगी। मास्टरने भी देखा और लड़कोंने भी देखा कि तेल कम है। एक लड़केने कहा—लाओ, मैं तेल डलवा लाऊँ।

एक दूसरे लड़केने पूछा—मास्टरजी, घरमें तेल है?

मास्टरजीने चिन्तित मुद्रासे कहा—'तेल?' और सहसा आगे वे कुछ न कह सके।

पहले लड़केने चुपचाप लालटेन ली और तेल डलवानेके लिए बाजार चल पड़ा।

कोठरीमें अँधेरा हो गया। लड़के हँसने और दङ्गा करने लगे। मास्टर उस अँधेरेमें खोया बैठा रहा। उसने अब देखा क्या कि अँधेरा अब उसके लिए बाहर है और भीतर है। बालकोंने कहा—मास्टरजी, मास्टरनीजीको जल्दी बुलवाइए।

मास्टरने सुन लिया और पी गया।

एक औरने कहा—मास्टरजी, मास्टरनीजीको दीवालीपर जरूर बुलवा लीजिए। आज अँधेरा है, उस रोज हम खूब रोशनी करेंगे।

मास्टरने सुन लिया और चुप रहा।

उस लड़केने कहा—मास्टरजी, सुनते नहीं हैं! दीवालीपर उन्हें जरूर बुलवा लीजिएगा। मास्टरने धीमेसे कहा—आच्छा।

एक बालकने कहा—मास्टरजी, अँधेरा तो बड़ा खराब लगता है। डर लगता है। आपको डर नहीं लगता है?

मास्टरने कहा—ओ, तुम लोग सोबककी बात नहीं करता हय। क्या एधर-ओधरकी बात करता हय?

इतनी देरमें लालटेन आ गई। पढ़ाई शुरू हुई। लेकिन मास्टरका जी इस घरमें बैठकर दबा-सा ही आता है। उसने कहा—देखो लरको, तुम इहाँसे रातको अपना घर दूर-दूर जायगा। यह ठीक नहीं हय। हाम कालसे तुमरा हो किशीका घर पढ़ाने आयेगा। बोलो, किशका घर ठीक बोलता हय?

अन्तमें एक बालकका घर निश्चित हुआ और मास्टरने कहा—आच्छा, अब तुम लोग जाने सकता हय। हाम कालसे खुद पढ़ाने आयेगा।

बालक छुट्टी पाकर अप्रसन्न न हुए और उन्होंने फिर आग्रह करना शुरू किया कि मास्टरनीजीको जल्दी बुला लें, दीवालीपर तो जरूर बुला ही लें। मास्टरजीने कहा—'आच्छा, आच्छा'। और हँसते-खेलते बालक बिदा हुए।

उसके बाद मास्टरने उठकर अपना तमाम घर देखा। यह देखनेके लिए नहीं कि पत्नीके साथ क्या-क्या और सामान चला गया है। देखनेके लिए यह कि कहीं किसी कोनेमें रूठके छिपी हुई वह पड़ी ही तो नहीं है। उसकी एक धोती सूख रही थी, जिसको उन्होंने चुनकर उसी खूँटीपर वैसे ही टाँग दिया जैसे वह और दिनों टँगी रहती थी। दोनों खाटोंको वैसे ही बिछा दिया जैसे और दिनों बिछा करती थीं। और जब और कुछ शेष न रहा तब बेचारा मास्टर अपनी खाटपर आ रहा कि सोए—

* * *

घरको उस हालतमें रखकर कि जो यहाँसे चली गई है वह जब आये तो पाये, उसकी धरोहर ज्यों-की-त्यों है, महामहिम वहाँसे अधिकतर अनुपस्थित हो जाता और लड़कोंमें ही अपनेको भूलता रहता। घरकी स्वामिनी आ जाय तो घरको अपनी बाट जोहता ही पाये, इस भाँति उस घरको वह प्रस्तुत और सँवारे रखता। सुबह और रात, और जब भी अवकाश हो, वह बालकोंमें पहुँच जाता।

बालक एक रात पढ़ रहे थे। सात बजेसे पढ़ रहे थे, अब नौ होता होगा। उन्हें नींद-सी आ रही है। महामहिम पढ़ा रहे हैं—

"आच्छा, नींद आता हय? तो सोओ। हाम चला जाता हय...भूगोल! देखो, धरती गोल है, नारंगीका माफिक। ओह, तुम लोग सोओ, हाम चला जा रहा हय...।"

कहकर मास्टर दरवाज़ेकी तरफ़को बढ़ते। कहते—देखो, इस सूबामें कौन-कौन दरया है? गङ्गा, जमुना, घाघरा, चम्बल, बेतवा, केन। हिस्ट्रीमें—

कहते-कहते कमरेमें फिर मास्टर वापिस लौट पड़ते।

—"हिस्ट्रीमें आर्ज जातिका विजय और उनका शोभ्यता खूब याद करना चाहिए। कौन-कौन लोगने भारतवर्षपर चढ़ाई किया? ओह, तुम लोग सोओ, हाम चला जाता हय।..."

फिर दरवाज़ेकी तरफ़ बढ़ते और अँगरेजी अथवा गणित या भूगोल-इतिहासकी कोई बहुत ज़रूरी बात बतलाते-बतलाते फिर लौट पड़ते।

वास्तवमें उनका अभ्यन्तर उस अपने मकानमें इस रात्रिके अँधेरेमें अपनेको अकेला पानेसे बचता था। इन बालकोंको परीक्षामें उत्तीर्ण करानेके प्रति उनकी चिन्ता भी कम नहीं थी।

इसी भाँति दिन बीतते जाते रहे। दीवाली ज्यों-ज्यों पास आती थी, लड़कोंका आग्रह बढ़ता जाता था कि मास्टरनीजीको अवश्य बुलवा लेना चाहिए। मास्टरजी लड़कोंके साथ पहले अनायास ही बँध चुके थे, जब उन्होंने एक बार कहा था—'हाँ-हाँ।' उसके बाद उन्होंने लड़कोंको यह भी कहा था कि उन्होंने अपने श्वशुरालय चिट्ठी डाल दी है। लड़के रोज पूछते थे—मास्टरजी, मास्टरनीजीका जवाब आया?

मास्टरजी कहते—हाँ, ओहाँ शब ठीक है। लेकिन आनेका बाबत कुछ नेई लिखा।

"मास्टरजी, दीवालीके रोज लक्ष्मी-पूजन होता है। मास्टरनीजीको लिखिए कि पन्ना, चुन्नी और रामसिंह उन्हें बहुत याद करते हैं—"

"और मैं।"

"और मैं।"

शेष लड़कोंने भी शोर मचाया—

मास्टरजीने कहा—आच्छा, आच्छा।

लड़कोंने कहा—और हम सबका पालागन लिखिएगा।

"आच्छा, आच्छा।"

इसी भाँति एक रोज बालकोंको उन्हें कहना ही पड़ गया कि मास्टरनीजीने तुम सबको अपना बहुत प्रेम भेजा है और लिखा है, दीवालीको आनेकी कोशिश करूँगी।

दीवालीसे पहले दिनों बालकोंमें बहुत उत्साह था। महामहिमका दिल बैठता जाता था। बालक पूछते—'मास्टरजी, वह आयेंगी?' मास्टरजी कभी कहते—'हाँ', कभी कहते—'नहीं', अधिकतर कहते—'कहने नेई शकता···।'

बालकोंने मास्टरजीका घर झाड़-बुहारकर खूब साफ कर दिया। मास्टरजीने कहा था कि दीवालीको वह न आईं तो वह खुद उनको लेने जायँगे। बालकोंने पूछा था—'फिर मास्टरजी, आप कब लौटेंगे?' इसके उत्तरमें मास्टरजीने कहा था—'आमरा बोहू बड़ा घरका है। छोटा शेहर ओ पशंद नेई करता। हाम गया तो वापिश नहीं फिरेगा। कोलिकाता शहरमें रहेगा। ओहाँ आमरा बोहूका मर्जी बेशी लगेगा।'

इसलिए लड़के दत्तचित्त होकर मास्टरजीके घरको खूब साफ करनेमें लगे हैं कि मास्टरनीजी न आती हों, तो भी आ जायँ।

दीवालीका दिन आ गया है। वह दिन आकर अब बीता भी जा रहा है। शाम हो चली; अब रात होगी और लोग रोशनी करेंगे। दीपकोंकी पंक्तियोंपर पंक्तियाँ जलाकर आज वे उद्योतित घरोंमें लक्ष्मीका आवाहन करेंगे। दीपकावलियाँ अमावस्याको व्यर्थ करती हुई घर-घर; नगर-नगर ज्योतिष्क होंगी। लोग मिलेंगे। बच्चे खेलेंगे। मिठाइयाँ बँटेंगी। मंगल-मोद होगा। ऋतु बदलेगी। हुलास खिलेगा।

लड़कोंने प्रबन्ध किया है कि यह सब-कुछ मास्टरजीके घरमें भी होगा। चुग्गे आ गये हैं, बत्तियाँ बट डाली गई हैं, तेल तैयार है, हिसाब हो गया है कि कहाँ-कहाँ और कैसे-कैसे कितने दिये रखे जायेंगे। सब काम लड़के कर रहे हैं और मास्टरजीसे अनुमति लेते जाते हैं। एक लड़का आता है, कहता है—परली कोठरीमें आलेमें दो-दो दिये रखे जायँगे न, क्यों मास्टरजी?

मास्टरजी कहते हैं—हाँ, हाँ।

दूसरा आकर कहता है—नहीं, मास्टरजी चार-चार रखे जायँगे। ठीक है?

मास्टरजी कहते हैं—हाँ, हाँ।

लड़कोंके उत्साहमें मास्टरजी भी उत्साह ले रहे हैं। कोई पूछता है,—

'अभीतक तो वह आईं नहीं, मास्टरजी! अब कल आयेंगी, कल बड़ी दीवाली है। है न?'

मास्टरजी उस बालकके प्रति देखकर कहते हैं—हाँ, हाँ।

बालक औरोंकी तरफ देखकर कहता—देख लो, मैं कहता था न, कल बड़ी दिवाली है, सो कल आएँगी। देख लो, मास्टरजी भी कह रहे हैं कि कल आएँगी। सब बालक मास्टरजीकी ओर देखकर कहते—'क्यों, मास्टरजी?'

मास्टरजी अत्यन्त आशामय बनते हुए कहते—'होने शकता हय।'

जगह-जगह कोने-कोनेमें दिये जलाये गये। अपने थोड़े-थोड़े स्नेहको पतली-पतली बटी रुईकी बत्तियोंके सहारे जलाकर वे दीपक अपने चारों ओर प्रकाश फैलाये हर तरफ बिछ गये। महामहिमने पाया कि वह स्वयं भी उन दियोंको बालकोंके हाथमें देकर अथवा उनके हाथोंमेंसे लेकर जगह-जगह प्रस्थापित कर रहा है। घरमें आलोक-ही-आलोक हो गया है। अँधेरा सिमटकर भी कहीं बैठ सके, इतना भी अवकाश उसे नहीं है। पर मानो वह सबका सब एकत्रित, घना होकर काला-काला उसके भीतर घुसकर बैठ गया है।

बालकोंने कहा—मास्टरजी, कैसा अच्छा लगता है?

मास्टरने कहा—बहोत आच्छा लगता हय!

बालकोंने कहा—मास्टरजी, आपके यहाँ लक्ष्मीजीकी तसवीर है? उनके नीचे एक घीका दिया जलाना चाहिए।

मास्टरजीने कहा—आमरा पास नेई हय।

"कोई भी तसवीर नहीं है?"

"विवाहका बादका हम दोनोंका एकठो फोटोग्राफ हय।"

बालकोंने उसीको लिया, उसे एक उच्च जगह स्थापित किया, उसे माला पहनाई और उसके चरणोंमें एक रुपया और घीसे भरा हुआ एक बड़ा दिया जलाकर रख

दिया। फिर वे लोग जानेके लिए आज्ञा माँगने मास्टरजीके पास आये और बोले — मास्टरजी, हम लोग अब जाते हैं।

मास्टरजी गद्गद हो आये। और उन्होंने बस इतना कहा—आच्छा।

बालकोंने पूछा—मास्टरजी, कल बड़ी दीवालीको तो मास्टरनीजी आ जायँगी न?

मास्टरजीने कहा—होने शकता हय।

बालक चले गये। तब महामहिमने एक गहरा श्वास छोड़ा। वह उस कमरेमें आया जिसमें माला-चर्चित उनका चित्र रखा था। उसके चरणोंमें घीका दीपक आलोकित था। उसने देखा, वह धोती चुनकर उसी भाँति खूँटीपर टँगी है, दूसरी खाट उसी भाँति बिछी है। उसका मन तो दोषारोपण करने कहीं भी जाता नहीं है। वह तो यही देखता है कि वह शय्या अप्रयुक्त ही रहती है। वह धोती अनावश्यक रूपमें खूँटीसे टँगी ही रहती है। वह खाटपर आकर एकस्थ एकटक देखता हुआ बैठा रह गया। मद्धिम ज्योतिसे बुझ-बुझकर जलते हुए दीपकोंको वह देखा किया। एक-एककर वे सब बुझते चले गये। अकम्पित हृदय और स्नेहके साथ जलता हुआ वह दिया ही उस कमरेको प्रकाशित किये रहा, जो उस विवाहित दम्पतिके चरणोंमें लौ लगाये, उन्मुख बैठा था। महामहिम बहुत देरतक इसी भाँति बैठा रहा। आज उसने घरके किवाड़ भी बन्द नहीं किये, खुले ही रहने दिये। धीरे-धीरे उसकी आँखोंपर पलकें गिर-सी चलीं। उसी समय उसे मालूम हुआ जैसे कोई घरमें आया है। लेकिन नहीं, कोई भी नहीं आया। वह पूरी तरह आँख खोलकर बैठ गया। बाहर दिये बुझ चुके थे और निविड़ अमारात्रि फैली थी। शनैः-शनैः नींदसे फिर उसकी आँखें झपने लगीं। किन्तु वह चाहता है, जागे-ही-जागे आज इस रातको उस रातसे मिला दे। वह सहसा उठा। उसने देखा, कमरेमें आलोक फैलाता हुआ वह दिया मद्धिम हो गया है। उसने सुना है, लक्ष्मी दो तिथियोंके सन्धि-क्षणमें ठीक रात्रिके मध्य मुहूर्तमें आती हैं। वह आयें तो घरको प्रकाशित प्रतीक्षामें ही पायें। उसने बढ़कर दियेकी बत्ती उकसा दी। उद्योत उज्ज्वलतर हुआ। वह फिर खाटपर आ गया। और हौले-हौले सपने फिर पलकोंपर उतरने लगे। शनैः-शनैः वह शय्या-पर लेट गया।

बाहर दालानमें अन्धकारमें भी सिमटती हुई जो नारी बैठी थी उसको अब शनैः-शनैः ढाढ़स बँधा। नहीं तो उसका डर जाता ही न था। चारों ओरका प्रकाश, उसे

मानो डसने आता था। गड़कर लुप्त हो जानेके लिए भी वह अपने तईं कहीं काली जगह न पाती थी। डयोढ़ीके बाहर जिस किसी तरह वह तमिस्राके परदेमें जीती रही। प्रकाशमें पड़ती तो, हाय राम, क्या होता ? अब उस कमरेके भीतर, जिसमें महामहिमामय महिम है, जानेका साहस उसे न होता था। क्योंकि यद्यपि महिम सोता है, पर दीपक जाग्रत है। उसका प्रकाश मानो उसे लील जायेगा। भीतरकी ग्लानिसे, मानो, प्रकाशकी एक भी किरण पाकर, उसका जी फटे बिना कैसे बचेगा। वह नारी दबे-पाँव कमरेमें घुसकर दीपककी ओर बढ़ी कि उसे बुझा दे और फिर अँधेरेमें इस सोते हुए महामहिमके पाँव पकड़कर निशीथको चीरती हुई चीख उठे—नाथ !

किन्तु दीपकको फूँकसे बुझाये ही, कि उसने देखा, कि दीपक तो उन्हीं दोनोंके चरणोंके निकट लौ बाँधे बैठा है। यह देखकर उसने अपनी छाती मसोस ली। कुछ देर, स्तब्ध, उसी चित्रके आगे वह खड़ी रही और फिर हृदय कठोर करके वह सोते हुए व्यक्तिकी ओर बढ़ गई। सावधानतापूर्वक महामहिमके पैर उसने पकड़े। और फिर उन चरण-तलोंमें जोर-जोरसे वह अपना माथा ठोकने लगी !

जाने महामहिम क्या स्वप्न देख रहा था। वह एक साथ उठा, बोला—एशेछेन माँ लक्ख्मी, आशुन।

नारीने उसके चरणोंको और भी जोरसे पकड़ लिया औ फूट-फूटकर रो उठी।

महामहिमने दोनों हाथोंसे उसे उठाकर शय्यापर बिठाया, कहा—लक्ख्मी जखन एशेछेन, तबे फिरे जेते पारिबेन ना। आलो निबिए दिच्छी, केमन केर जावेन ? कह-कर दीपक बुझा दिया—

* * *

अगले दिन अँधेरे ही दुकान खुलवाकर महामहिम बहुत-सी मिठाई लाया। उसे घरमें रखकर एक बालकके घर जाकर कहने लगा—ओरे चुन्नी, ओभी शोता हय। आमरा बोहू तुमरा वास्ते खूब-सा मिठाई लाया हय !

फिर दूसरे बालकके घर जाकर कहा—पोन्ना ! पोन्ना ! शुनो, आमरा बोहू तुमरा वास्ते मिठाई लाया हय।

फिर तीसरेके यहाँ, फिर चौथेके यहाँ...।

बालक लोग मिले, आपसमें कहने लगे—देखो हम कहते थे न, बड़ी दिवालीको मास्टरनीजी आयेंगी ?

सब लोग मास्टरजीके घर पहुँचे। मास्टरनीजीको नमस्कार किया। देखा, मास्टरनीजी तो बड़ी दुबली हो गई हैं। वे लोग बोले—मास्टरनीजी, आपने अपनी बीमारीकी कोई खबर भी नहीं दी और आप तो बिलकुल अचानक आ गई हैं। पहलेसे खबर भी नहीं करी।

मास्टरजी जब बालकोंमें बर्फी और पेड़े बाँटने लगे तब खूब खुश होकर खाते हुए बालकोंने कहा—मास्टरनीजी, आप अपनी देशवाली मिठाई क्यों नहीं लाईं? वह रसगुल्ला और दूसरी क्या चीज़ होती है—हाँ सन्देश?

मास्टरजीने झटपट कहा—तोमरा देशका चीज लाया हय। कोलिकातामें सब रोकमका चीज मिलता हय। रोशगुल्ला तुम लोगको आच्छा लगेगा? अबका बार जाना होगा तब खूब-सा रोशगुल्ला लायेगा।

मास्टरनीजी इस बातचीतमें जाने कैसे अपने आँसू रोके रहीं?

———

रानी महामाया

हेमवन्त नामका एक द्वीप था। वहाँ रानी महामाया राज्य करती थीं। उनको पता नहीं था कि वह विधवा हैं या क्या! राजा वैजयन्त एक रोज आखेटके लिए कहकर गये थे और फिर न लौटे थे। यह तबकी बात है, जब रानी महामाया अपनेको जाननेके निकट आ रही थीं। दुनियामें रसदर्शन और अर्थदर्शनकी परख होनेका समय उनका आ ही-सा गया था। अबतक काल मानो अभिसारमें बीता था। अभिलाषाएँ स्वप्निल थीं, रंगीन, और उनमें अभी टीस उग रही थी। समय आया था कि क्रीड़ा-क्रीड़ामें जिसको पाती रही हैं, गहरे प्राणोंमें उसको उपलब्ध करें, अनस्थिर प्रगाढ़ताके साथ उसे अपने भीतर ले लें।

ऐसे ही समय प्रियतमने कहा—प्रिये, मैं आखेटके लिए जाता हूँ।

रानीने पूछा—कब आओगे?

'कब आऊँगा?' और राजा किंचित् मुसकराये।—तुमको चिन्ता होती है, प्रिये! शंका होती है?

रानी सदाकी भाँति बाहुओंको फैलाकर प्रियतमको अपने पाशमें ले लेनेको नहीं बढ़ सकी। उसका प्रेम जैसे भीतरसे एक साथ ही गम्भीर और वेदनामय हो आया। मनकी साध बुझ-सी गई और रसकी चाह कुंठित होने लगी। उसने कहा—जल्दी आना।

राजा वैजयन्त मुस्कराये, चले गये, और फिर नहीं लौटे।

* * *

आखेट-रक्षकने कहा—महारानीजी, महाराजा तो नहीं मिले। हमें छोड़कर घनघोर वनमें जाने कहाँ चले गये।

अंग-रक्षकोंने कहा—महारानीजी, महाराजका पता नहीं है।

और वे बिलख-बिलख रोने लगे।

आखेटपर महाराजके साथ गये हुए सब संगी-साथियोंने आकर कहा—महारानीजी, महाराज हमारे सबके देखते-देखते आँखोंसे ओझल हो गये। हम लोग खोज-खोजकर हार गये हैं। उनका कोई पता नहीं मिलता।

प्रहरीने कहा—राज-मन्त्री पधारे हैं।

राजमन्त्रीने आकर कहा— महारानीजी, महाराज न-जाने कहाँ प्रयाण कर गये हैं। प्रजाकी आप माता हैं। प्रजा उद्विग्न है। बाहर आकर तनिक उसे सम्बोधन दीजिए। राजमुकुट स्वीकार करके प्रजाको सान्त्वना दीजिए। महारानीजीके मुकुटाभिषेकके महोत्सवके लिए वसन्त-चतुर्थीकी तिथि नियुक्त करनेके विषयमें महारानीकी क्या आज्ञा है?

महामायाको शोकसे उबरनेका समय भी कहाँ मिला। उन्होंने कहा—महामात्य, क्या वसन्त-चतुर्थीकी तिथि बहुत निकट नहीं है! माहामात्य, रानी महामायाकी इच्छा है, आप अधिक करुणावान् हों। प्रजासे कहिए, रानी महामायापर वह भी करुणा करे। महाराजा ही अभी महाराजा हैं। उनकी खोजको छोड़नेकी कभी आवश्यकता न समझिए। महामायाकी इच्छा है कि उसका मुकुटाभिषेक न हो।

महामात्यने कहा— महारानीजी प्रजाकी माता हैं। उनके दुःखमें प्रजा पीड़ित है। प्रजा चाहती है, महारानीजी स्वयं मूर्धन्यपर राजमुकुट धारण करें और प्रजाको इस सुख-दर्शनका लाभ दें। प्रजावत्सल महाराजकी रानी महामायासे प्रजा-जन अपना यह स्वत्व माँगते हैं।

महामायने कहा—सचिव, महामाया प्रजा-जनकी ही है। किन्तु कहो, वे धैर्य रखें। वे ऐसा चाहेंगे, तो सचिव यह भी होगा। किन्तु रानी महामायापर अकरुण होना उन्हें नहीं शोभा देता।

मन्त्रीने कहा—वसन्त-चतुर्थीको महारानीके पुण्य-दर्शनकी जनतामें बहुत आशा बँध चुकी है। ऐसी अवस्थामें क्या महारानीकी इच्छा है कि प्रजा निराश की जाय?

रानी—मुझे दुःख है—

मन्त्री—प्रजाका आशीर्वाद महारानीको सुखी करे।

रानी—नहीं, नहीं, महामात्य!

मन्त्री—सहस्राधिक प्रजाजन महलके बाहर खड़े हैं। वे अपने उल्लासके सम्बन्धमें महारानीकी अनुमतिकी प्रतीक्षामें हैं।

रानी—महामात्य !

मन्त्री—महारानी !

रानी—मन्त्रिश्रेष्ठ, प्रजा अपनी महारानीको क्या अपना सुख-दुःख समझनेकी स्वाधीनता नहीं देगी ? क्या वैसी फुरसत अपनी रानी महामायाको प्रजा नहीं रहने देगी ? मन्त्री, कहो, प्रजा रानीको क्षमा कर दे ।

मन्त्री—क्या महारानी अपने जयघोषका नाद सुनती हैं ? प्रजा महारानीजीकी इच्छा जोह रही है ।

(महारानीका मस्तक हाथोंमें है, बाल फैले हैं, विषादमें डूबी है)

रानी—ओह !

मन्त्री – महारानी महामाया !

रानी—(सावधान होकर) क्या प्रजा सहेगी कि उनकी रानी रानी न होकर उनकी गुलाम हो ? मन्त्री, क्या प्रजामें यह सामर्थ्य है ? इतनी इच्छा है ?

मन्त्री—(विस्मित) महारानी !

रानी—(उत्तिष्ठ) प्रजाके लिए रानी महामाया प्रजा-वत्सल होगी । वही महामाया प्रजाकी आज्ञानुवर्तिनी होकर, मन्त्री, मुझे शका है, प्रजाके लिए असह्य न हो जाय । महामात्य, प्रजासे कहो, करुणा श्रेष्ठ है, आनन्दोत्सुकता श्रेष्ठ नहीं ।

मन्त्री—(विमूढ़) महारानी !

रानी—(तत्पर) मन्त्री, महाराजा वैजयन्तसे प्रजा विस्मृति चाहती है ? स्मृतिसे छुट्टी चाहती है ? उनका अभाव मान लेकर उनके सिंहासनपर नये प्राणीको चाहती है ? वह अत्यन्त समुत्सुक है ? महाराजाके लोप हो जानेपर अत्यन्त विश्वस्त है ! महामात्य, क्या प्रजा सिंहासनपर कोई खिलौना अवश्य चाहती है ? क्या अपने दुःखके कोषको लुटाकर महामायाको यह बनना होगा ? प्रजा असंख्य है, क्या इसीसे वह दया-धर्मसे मुक्त होगी ? क्या इसीसे उसकी माँग अनुल्लंघनीय होगी ? क्या प्रजा प्रजा है, इसीसे उसकी इच्छा मेरे लिए आज्ञा बनेगी ? मन्त्री, कहो, रानी होनेका क्या यह दण्ड है ? कहो, क्या यही सुनाने तुम यहाँ आये हो ? कहो, क्या यही तुम कहते हो कि इससे बचनेका मार्ग नहीं है ?

मन्त्री—(गतबोध) महारानी !

रानी—(साग्रह) महामात्य, बोलो ।

मन्त्री—(अवश) मेरा आग्रह क्षम्य हो, महारानी ! रानी महामायाकी इच्छा ही मेरा व्रत हो।

रानी—(दृढ़) तो प्रजाजनसे कहो, महामात्य, वसन्त-चतुर्थीको राज्याभिषेकोत्सव होगा। वे सन्तुष्ट हों, प्रस्तुत हों। महामायाको सिरपर मुकुट लेना होगा, तो वह उसे सिरपर लेगी, पीछे न होगी।···हे राम !

मन्त्री—(कातर) महारानी !

रानी – अमात्य, तुम जाओ। रानीको अपने दुःख-भोगका अवकाश नहीं हो है, तो न हो। उसे नहीं स्वाधीनता है, तो सुनो, अमात्य, वह राज्य करेगी। राज्य सावधान हो जाय।

मन्त्री – (भयभीत) महारानी ?

रानी—(आविष्ट) जो अनिवार्य है, हो। विधाताकी इच्छा। संकटका क्या यह भी उपयोग करनेका अवकाश व्यक्तिको न होगा कि वह उसे झेले, झेलकर चैतन्य बने, भक्त बने, दीन बने ? क्या रानी व्यक्ति नहीं है ? क्या रानी नारी नहीं है ? किन्तु महामात्य, तुम निश्चिन्त जाओ, कह दो, वसन्त-चतुर्थीको महामाया राजमुकुट लेगी। महाराजा, उसके स्वामी, कहाँ गये हैं, अगर प्रजा यह जानने और पानेको चिन्तित नहीं है, तो महामाया भी यह जानने और पूछनेको उत्सुक नहीं दीखेगी। वह बनेगी रानी। सुनते हो, महामात्य ? जाओ और कह दो।

मन्त्री—(हाथ जोड़कर) महारानीजीसे सेवक क्षमा माँगता है। प्रजाको समझा दिया जायगा। सेवक एक मार्ग देखता है। महारानी महामाया अपने भाईके पुत्र वसन्तद्युतिको दत्तक स्वीकार करके क्या राज्यासनपर आसीन करनेमें सम्मत होंगी ?

रानी—नहीं, अमात्य ! महामाया अबला क्यों होगी ? और राज्यासन खाली क्यों होगा ? महाराजाका पुत्र नहीं है, किन्तु महाराजाकी निष्पुत्रा रानी महामाया तो है। वह सब सहेगी। महाराज वैजयन्तका सिंहासन किसीके आगे प्रार्थी नहीं बनेगा।··· देखो, बाहर एकत्रित जनता महाराजाके अभावपर कैसी मतवाली हो रही है। उनके कंठका अंकुश जैसे उठ गया हो। अरे, क्यों वह महामायाके कान फोड़ना चाहती है ? जाओ अमात्य, उन्हें सुनाओ, अपने गलोंको वे शान्ति दें। अबला महामाया वसन्त-चतुर्थीको राज्यकी रानी बनेगी।

(मन्त्रीका प्रस्थान)

* * *

इस प्रकार हेमवन्त द्वीपकी रानी होकर महारानी महामाया राज्य करती थीं। दिनमें राज-मुकुट पहनकर राज-सभामें राजतन्त्र चलाती थीं। रातमें आकाशके तारोंको गिनती हुई जागती थीं, और उन्हें गिनती-गिनती ही सो जाती थीं। महाराज वैजयन्तका कहीं पता न चला था।

महारानीके शासनकी निर्ममतासे प्रजा त्रस्त हो गई। महारानीके हाथसे न्याय जब कि सहज-प्राप्त था, दया सर्वथा दुष्प्राप्य थी। अपराधीको दण्ड ही मिलता था। क्षमाकी कहीं व्यवस्था न थी। दया स्वयं अपराध थी, और राज्यके न्यायाधीशोंमें कोमलता दुर्गुण समझी जाती थी। महारानी महामायाकी कड़ी आज्ञा थी कि महाराजा वैजयन्तके समयके नियमोंका निरपवाद और अक्षरशः पालन हो। छूट कहीं न हो, बचाव कहीं न हो। अतिशय तत्पर कर्मठ तेजस्विनी बनी महारानी महामाया स्वयं राज-सभामें उपस्थित होकर कठोरतापूर्वक शासनका सञ्चालन करती थीं। आर्त्तकी पुकारके प्रति वह परमात्माकी तरह अदय हो रहती थीं। आर्त्त क्यों आर्त्त है? और जब वह आर्त्त है, तो क्यों साहस करता है, क्यों आशा करता है कि अपने आर्त्तनादसे अनुशासनके पद-चापपर बाधा डाले? क्या जगत्तन्त्र उसकी चीख-पुकारपर रुके? सहमे?

और, रातके सन्नाटेमें महामाया आकाशके महारहस्यको सूनी आँखोंसे देखती थीं, और देखती रहती थीं। उनके भीतरसे भरी साँस उठती आती और छूटकर खो जाती। यज्ञमें प्रदीप्त अग्नि-शिखाकी भाँति, अँधेरी और उज्ज्वल, वह प्रश्वास सतत ऊपरकी ओर विलीन होती हुई इस आकाशमें रमे रामके चरणोंमें फूट-फूटकर सुब-केगी—'ओ मेरे राम! मैं अकेली क्यों? बता वह कहाँ है? कहाँ है?' गर्मीकी रातोंमें, दूर, काले-से दीखते वन-प्रान्तरको देखती हुई और दूसरी ओरसे समुद्रसे आती हुई गर्जनाको सुनती हुई इन सबसे ऊपर होकर, मानो अपने प्रश्नसे वह इस समस्त रिक्तको गुँजा डालना चाहती है—'ओरे तू कहाँ है? कहाँ है?' यह प्रश्न आकण्ठ उसमें भर-भर आता है, 'तू कहाँ है? कहाँ है!' पर वाणी फूटती नहीं। और वह वेदना भीतर ही घुमड़-घुमड़कर नीरव भावसे पूछती रह जाती है—'ओरे तू कब पायेगा? कब पायेगा?' पूछती ही रह जाती है, उत्तर कहीं से भी नहीं पाती। आसमानके चन्दोवेमें कोई सिहरन नहीं होती। तारे चमकते ही रहते हैं। सन्नाटा सुनसान ही रहता है। तब दीनातिदीना बनी महारानी महामायाकी आँखोंसे आँसू झर-

झर झरते हैं। वे आँसू भरते ही आते हैं। वे आते जाते हैं, टपकते जाते हैं और गिरकर सूखते जाते हैं। और, फिर भी तो मनके भीतर और इस शून्यकी गोदमें कोई उत्तर ध्वनित नहीं होता कि वे कब पायेंगे। वह राह देखती है और देखती रहती है। वह जागती है और जागती रहती है। फिर हार भी जाती है और सो जाती है।

यों रात ढल जाती है, और उद्यत उजला दिन आ जाता है। रातको लोग स्वप्न लें; पर दिनमें काम है। रातमें राजा पुरुष है और चाकर भी पुरुष है। रातमें रानी नारी है और दासी भी नारी ही है। पर दिन, रात नहीं है। दिनमें राजा राजा है, चाकर चाकर। रानी रानी है और दासी मात्र दासी।

इससे, दिन जब चढ़ता है, रातकी भूलसे उठकर दुनिया जब अपने आपेमें होती है, उस समय महारानी महामाया भी राजसिंहासनके ऊपर और राज-मुकुटके नीचे शासन-तन्त्रके निर्वाहमें कटिबद्ध बन आती हैं।

* * *

ऐसे ही वर्ष-पर-वर्ष बीत गये हैं। यौवन परिपक्व होता गया है और रातें आँसुओंसे भीगती बीती हैं। राज्यमें अखण्ड शासन-चक्र चलता रहा है, निर्विघ्न, अन-वरत और अलिप्त। पर, यौवन अब ढला चाहता है। महामायाको उत्तर नहीं प्राप्त हुआ है कि वे कब पायेंगे। अपने प्रश्नको अपने चारों ओर ध्वनित करती हुई, निस्पन्द रात्रिमें, उत्तरापेक्षिणी वह सदा ही बैठा की है; उत्तरकी भनक उसे कहींसे भी नहीं पड़ी है। अब जब बिछोह पक गया है, वह कहती है—'अरे, अब तो बोलो, तुम कब आओगे?' और जब भी उत्तर नहीं पाती, तो सोच उठती है—अभी आकांक्षाका ढलना कुछ और शेष है शायद। जब आकांक्षा ढलकर निःशेष हो जायगी, तभी शायद प्रियतमका आना होगा। तब फिर अपनेको देखकर सोचती है—'अरे, यह यौवन क्यों नहीं और जल्दी-जल्दी मुझपरसे ढलकर चला जाता है कि प्रभु मिलें!'

* * *

इधर राज्यमें षड्यन्त्र बन चले हैं। यह महामाया रानी बनकर यों निरंकुशा रहेगी? अत्याचार क्या यों ही होते रहेंगे? दैन्य क्या अपमानित ही होगा? भूखोंकी चीख क्या कलपती ही जायगी, वह सुनी न जायगी? यह महामाया कौन है? इसके पास रानीका कोई पट्टा लिखा हुआ नहीं है। यह स्त्री है कि राक्षसी है! हेमवन्त द्वीपको इससे मुक्त करना होगा। गुप्त समितियाँ बनने लगीं और गुप्त मन्त्रणाओंने

बल पकड़ा। युवक आदर्श सीखने और सिखाने लगे। बलिदानका महत्त्व आविष्कृत हुआ।

और, रातमें जब अबला महामाया धरतीपर बिछी चटाईपर लोट-लोटकर समुद्रका गर्जन सुनती, वन-प्रान्तकी अँधियारी रेखाके इङ्गितको बूझती और असंख्य तारोंको ताकती हुई, अपने निष्फल यौवनका विसर्जन देती हुई, अकेली, अरक्षणीया, पूछती होती थी — 'अरे, तुम कह दो, मैं कब तुम्हारे पास आऊँगी। तुम बहुत दूर हो, तब मैं ही चलती हुई, कहो, किस राहसे तुमतक आ जाऊँ!' उस समय राज्यके कुछ अधिकारीगण कोठरीमें दिया-बत्ती जलाकर इकट्ठे मन्त्रणा करते होते थे कि निरंकुश सम्राज्ञी बनी अत्याचारिणी महामायाके भारसे कैसे अपने सुन्दर राष्ट्र हेमवन्तको मुक्त करना होगा? वे लोग हेमवन्तके मान-चित्रको नमस्कार करके एक-एककर शपथ खाते थे कि वे उत्सर्गसे पीछे न हटेंगे, राष्ट्रको नृशंसतासे मुक्त करेंगे। वे लोग संकल्पसे भरे, धर्म-भावनासे उद्धत, उत्सर्गको उत्सुक, उस समय अपने राजनीतिक कर्तव्यको परस्परापेक्षासे ज्वलन्त और निर्दिष्ट और धारदार बनाया करते थे।

* * *

महामात्यने आकर कहा—महारानी, प्रजामें विद्रोहियोंका प्रभाव बढ़ता जाता है। आज्ञा दीजिए, विद्रोहियोंके सम्बन्धमें अधिक शोध की जा सके। उस ओर अब अत्यधिक सतर्कता भी कम हो सकती है। महारानी, आज्ञा दीजिए, मैं क़ानून···

रानी—महामात्य, क़ानूनका पालन करो। उसका अक्षर-अक्षर पालन हो। ममता अन्याय है। लेकिन क़ानूनमें जिन्हें शङ्का है, उसमें परिवर्तन जिनका लक्ष्य है, राजनीतिक जिनकी प्रेरणा है, उनका दमन न होगा। विद्रोहियोंका प्रभाव बढ़े, लेकिन साधारण न्यायसे अधिक कोई अधिकार, कोई अस्त्र मैं तुमको न दूँगी। और तुम जानते हो, मेरे दिन अधिक शेष नहीं भी हो सकते हैं।

मन्त्री—महारानी, षड्यन्त्र घरसे बहुत दूर नहीं है। आपकी ही रक्षाका हाथ उन्हें विनाशसे बचाये है। महारानी, षड्यन्त्रका विस्फोट भयंकर हो सकता है।

रानी (सस्मित)—रानीके जीवनसे तुम्हें प्रेम है? रानीके पास उस प्रेमका हेतु नहीं है।

मन्त्री—महारानी!

रानी—अपने जीवनका एक भी दिन कम करनेकी इच्छा करनेका वश मेरा नहीं है। जीते ही चलना होगा। तबतक, जबतक प्रार्थना स्वीकृत हो। षड्यन्त्रकारी

भीरु हैं, किन्तु भीरुता तो क़ानूनमें दण्डनीय नहीं है। षड्यन्त्रका उद्देश्य कौन जाने कहाँतक पवित्र है! किन्तु हम तुम कितने पवित्र हैं? शासन-तन्त्रको संस्कार देनेका संकल्प तो दण्डित नहीं हो सकेगा। और जो मेरी मुक्तिके इच्छुक हैं, वे अगर क़ानूनकी पकड़में आते भी हैं, तो क़ानूनको मेरा अधिनायकत्व इस अंशमें स्वीकार करना होगा कि मैं उन्हें अदण्डनीय ठहराऊँ। क्योंकि प्रश्न मेरी जानका है। मेरी सम्पत्ति मेरी जान है और उसे लेनेवाला मेरी इच्छाके विरुद्ध दण्डित नहीं किया जा सकेगा।

मन्त्री—महारानी, कुछ अतिसांघातिक सूचनाएँ मैंने पाई हैं। लिखित प्रमाण मेरे पास हैं। (कागज़ोंका एक बड़ा पुलिन्दा देते हुए) महारानी, आप इन्हें देखें। आपके अतिविश्वासी लोग आपके शत्रु हैं।

रानी—(कागजोंको स्थिरताके साथ फाड़ते हुए) अमात्य, मेरे विषयमें इतने चिन्तित न बनो। क्रान्तिसे षड्यन्त्रकारी क्यों डरते हैं, यही मुझे आश्चर्य है। क्या तुम महामात्य, दिखाना चाहते हो कि तुम भी डरते हो? भय संहारका हेतु है। निर्भय रहनेसे संसारकी आवश्यकता निःशेष होगी। महामात्य, मुझे दीखता है, षड्यन्त्रकारियोंकी भीरुता कुछ बलि लेगी। महामात्य, उन बेचारे षड्यन्त्रकारियोंको क्या किसी प्रकार निर्भीक नहीं बनाया जा सकता?

मन्त्री—महारानी!

रानी—मुझे क्यों न न्यायाधीशके समक्ष लानेकी वे माँग करें? यह क्यों नहीं समझा जा सकता कि रानी होकर महामाया नारी है? कि वह एक व्यक्ति है कि रानी होकर किसी क़ानूनसे वह छूटी नहीं है। ईश्वरका क़ानून अमोघ है, अनिवार्य है। महामात्य, इस जानकारीको सर्वप्राप्य बनाओ।

मन्त्री—मैं महारानीजीकी सेवामें चेतावनी देने आया था। महारानी उसे लेना अस्वीकार करती हैं। महारानीने मेरे कर्तव्य को भी मर्यादा बाँध दी है। यदि राज्यके विरुद्ध षड्यन्त्र रचनेवालोंको महामात्य व्यर्थ नहीं कर सकता, तो वह महामात्य किसलिए है? महारानीकी रक्षा नहीं कर सकता, तो सेवक किसलिए है? मैं महारानीका अमात्य होकर नहीं सह सकता कि महारानीके अनिष्टको न रोक सकूँ। उस अनिष्टके मार्गमें अवरोधक न बनना, महारानी, सहायक बनना है। महारानी, इसलिए मुझे अपने पदसे मुक्त होने दें।

रानी—महामात्य!

मन्त्री—महारानी !

रानी—अमात्य, तुम इस समय छुट्टी चाहते हो ? क्या मैं कहूँ—'अच्छा ? क्या मैं महाराज वैजयन्तकी तुम्हें याद दिलाऊँ, जिनके मात्र उत्तराधिकारी बने हम यहाँ बैठे हैं ? क्या मेरे दिन भी अब बहुत बचे हैं ? फिर भी तुम छुट्टी चाहते हो—तो—

मन्त्री—महारानी !

रानी—महामात्य, जाओ, मेरी चिन्ता न करो । इन काग़ज़ोंकी भी चिन्ता न करो, ये जल जायँगे । षड्यन्त्रकारियोंकी खबर रखो ; पर यदि प्रजाकी हानि नहीं करते, तो उनकी स्वतन्त्रतापर तनिक विकार न लाया जा सकेगा । महामात्य, यों हम तुम सबको क्या अनन्त काल तक जीना है ?

मन्त्री—महारानी !

(रानीने जानेका संकेत किया । महामात्य चले गये ।)

× × ×

एक रोज महामायाने मुट्ठीमें पकड़े अपने केशोंमें देखा कि केश उसके सफेद भी हो गये हैं । उसे प्रसन्नता हुई । उसने महामात्यको बुलाकर कहा—महामात्य, मैं आज तुम्हें एक प्रसन्नताकी सूचना देना चाहती हूँ । रानी महामायाके प्रयाणका समय अब निकट आया है । मैं कहना चाहती हूँ कि मैं चुपचाप जाना चाहती हूँ । रक्तपात नहीं चाहती ।

उस रात्रिको महामाया अत्यन्त कातर हो-होकर पुकारने लगी—'ओजी, बताओ, तुम्हें कब मैं पाऊँगी ? मैं कब तुम्हारे पास आ जाऊँगी ? अरे, बताओ ।'

बहुत देर और बहुत आँसुओंके बाद मानो कहीं अत्यन्त पासहीसे उत्तर मिला—'महामाया, धैर्यका पुरस्कार तुम्हें मिलेगा । मैं कहीं दूर नहीं हूँ, प्रियतमे !'

* * * *

अगले प्रातःकाल नगर-भरमें लाल-लाल अक्षरोंमें पत्रक चिपके हुए मिले, जिनमें लिखा था कि राज्यके मदमें मत्त हुई रानी महामायाका अन्तकाल निकट है । प्रजाको जाग्रत होना चाहिए, उत्तिष्ठ होना चाहिए । सत्यकी ही सदा जय होगी, अत्याचारीको नीचा देखना होगा । प्रजाजन उठो, बलि होओ । पर, अपना स्वत्व प्राप्त करो ।···आदि ।

महामात्यने महारानीकी सेवामें उस पत्रककी प्रति प्रस्तुत करते हुए निवेदन किया - देखिए, महारानीजी, आपकी क्षमाका परिणाम यह है !

महारानीने पत्रकको एक निगाह देख लिया और ईषत् स्मितके साथ कहा—

महामात्य, मैं किस दिनके लिए जी रही हूँ? क्या जानेके दिनके लिए ही नहीं? मुझे रात ही अपनी प्रार्थनाकी स्वीकृति मिल चुकी है। प्रभातमें रक्ताक्षरोंसे अंकित उसका प्रमाण तुमने मुझे ला दिया है, तब तो मैं रातकी बातको चाहकर भी स्वप्न नहीं समझ सकती।

महामात्य—महामाया रानी!

रानी—अमात्य, प्रबन्ध यह करो कि रक्तपात न हो।

मन्त्री—क्या प्रबन्ध करना होगा, माता?

रानी—क्या प्रबन्ध? घोषणा कर दो कि चौबीस प्रहरके भीतर राज्यवासी सोच देखें, वे क्या चाहते हैं। उस समयके भीतर सब स्वतन्त्रता उन्हें है। उसके बाद रानी महामाया रानी नहीं रहेगी। शासनका जो तन्त्र बनेगा, रानी उसके हाथमें होगी, उसके न्यायके समक्ष होगी। प्रजा आत्म-निर्णय करे। रानीको चौबीस प्रहर बीतनेके बाद वह किसी भी प्रकार रानी नहीं पा सकेगी।

मन्त्री—माता महामाया!

रानी—मैं जानती हूँ, अमात्य! रात मैंने उत्तर पा लिया है। तुम जाओ, अपनी सेनाको प्रस्तुत रखो। उसकी आवश्यकता हो सकती है। रानीको रानी चाहनेवाले लोग उत्पात करें, तो उनका दमन करना होगा। रक्त गिरे ही, तो अपनोंको ही गिरे, अमात्य। प्रेम का यही मार्ग है।

और विह्वल, अवश, महामात्यको महामायाने उसके कर्तव्यकी ओर भेज ही दिया।

* * * *

उपसंहार

महामायाने प्रबन्ध किया कि षड्यन्त्रकारियोंकी भीरुता नष्ट हो। वे निर्भीक बनकर सामने आयें। अपने अन्तर्हित हो जानेकी बात उसने नहीं सोची। प्रत्युत षड्यन्त्रकारियोंके हाथों स्वयं दण्डित होनेकी अनिवार्यता उसने उपस्थित की। उसने व्यवस्था की कि सार्वजनिक वधस्थलपर जाकर उसका सिर उतारा जाय। इस प्रकार रानी महामायाकी मुक्ति हुई! *

---

* उपसंहार लाचारीका परिणाम है, क्योंकि कहानी बड़ी बहुत न होनी चाहिए। सम्भव है कि उपसंहारको कहानी और भी कभी लिखी जाय।

—जैनेन्द्रकुमार

राजीव और भाभी ४

राजीवको नामसे आप न जानते हों, यह कठिन है—जी हां, शिल्पी राजीव हो। उसके साथ, कोई बीस वर्ष हुए, एक होलीके दिन क्या अघटनीय घटित हुआ, सो आज सुनानेकी छुट्टी हुई है।

आज तो वह बहुत बड़ा आदमी करके जाना जाता है। बड़े आदमीसे अवश्य भाव यह नहीं कि देह उसकी संक्षिप्त नहीं है। दुबला तो वह अब भी सदाकी भाँति है। लेकिन अब जो सम्पन्नता उसको चारों ओरसे ऊँचा उठाये है, वह न थी। नई गिरिस्ती उसकी हुई थी, और तब मा भी थी। जैसे-तैसे अपनेको और उनको पालता था।

बीस-बाईस वर्षकी अवस्थामें मनुष्यकी आकांक्षाएँ स्वप्निल होती हैं। उनको परवरिश मिले तो वह पनपें, नहीं तो सूखकर मुरझा जाती हैं, और यौवन बीतते-बीतते आदमी अपनेको चुका हुआ अनुभव करता है। वे आकांक्षाएँ स्नेह माँगती हैं। स्नेह अनुकूल समयपर और यथानुपात मिले तो वे हरी-भरी होकर कैसे-कैसे फूल न खिला आयें, कहा नहीं जा सकता। नहीं तो वे अपने को ही खाती-चुकाती रहती हैं। मूल जिनके दृढ़ हों, ऐसी प्रकृतियाँ विरोधमेंसे भी रस खींचती हैं, अवश्य; और वे मानो चुनौतीपूर्वक बढ़ती रहती हैं। पर इस शक्तिको प्रतिभा कहा जाता है; और प्रतिभा सरल नहीं है, वह तो विरल ही है।

कहना कठिन है कि राजीव में प्रतिभाकी शक्ति कितनी थी। किन्तु जब उसमें अतीव भूख थी कि कोई उसे पूछे, तब वह निरा अकेला अपनेको पाता था। दुनियाकी निगाह बाज़ारकी ओर थी, भला राजीवमें क्या उसका अटका था? बस, मा उसको थी, जो घरका काज-धन्धा करती थी। पत्नी तब नहीं आई थी।

एक रोज़ माकी तबीयत कुछ खराब थी। वह रोटी नहीं बना सकती थीं। सो

रोटी बनाई, सब काम किया, और राजीव नौकरी खोजनेके लिए निकल गया। लौट-कर आ सका कहीं शामको। हारा-थका था, और भूखा था। तनिक सुस्ताकर जब चूल्हेपर कुछ चढ़ानेके विचारसे चौकेमें वह गया तो देखता है, वहाँ तो कई भाँति-के उज्ज्वल बर्तनोंमें पक्का खाना रखा हुआ है !

राजीवने पूछा—मा, तुमने खाना बनाया है ?

माने कहा—नहीं तो बेटा, बहूरानीने भेज दिया है।

मासे कई बार राजीवने बहू रानीका जिक्र सुना है। यह हवेली उनकी ही है। और भी जायदाद है। वह बड़ी दयावन्त हैं। राजीवकी नौकरी लगनेके बारेमें अक्सर पूछती रहती हैं। हवेलीका थोड़ा-सा हिस्सा राजीव और राजीवकी माको उठा दिया है, बाक़ी ऊपर वह खुद रहती हैं। दो बच्चे हैं, जो उन्हें भाभी कहते हैं।

कभी-कभी मोटरमें उन्हें जाते राजीव ने देखा है। इस घरमें भी कभी-कभाक वह दीख गई हैं। ज़रा देहसे स्थूल हैं, लेकिन हँसनेवाली बड़ी हैं। मनकी तो बहुत ही अच्छी हैं। और रूपकी —(लेकिन, वहाँ तो वह अन्दाज़से ही काम लेता है, क्योंकि ठीक तरह उसने कोई उन्हें देखा थोड़े ही है)—रूपकी तो वह सर्वथा देवी ही हैं, ऐसा सुश्री मुख है।

राजीवने कहा—मा, तुमने कह न दिया कि रज्जो आकर खुद बना लेगा। वह क्यों तकलीफ़ करती हैं ?

माने कहा—मैं तो उनके हँसते हुए चेहरेके सामने कुछ कह ही न सकी, बेटा, और वह आधे घंटेसे भी ज्यादे मेरे पास बैठी रहीं।

राजीवने आश्चर्यसे पूछा—खाना वह खुद लाई थीं, क्यों मा ?

माने कहा—'हाँ, बेटा !' और तदनन्तर सोत्साह वह बखान करने लगीं कि रानी बहू और क्या-क्या बातें कहती-सुनती रहीं, कैसे वह साक्षात् देवी हैं, और...

लेकिन राजीव सुननेको ठहरा नहीं। वह गया और चुपचाप जाकर खाना खा लिया। खाकर तभी उसने उन ऊपरसे आये हुए बर्तनोंको अच्छी तरह माँजा, उन्हें पोंछा और लेकर चला। ज़िन्दगीमें पहली बार जीना चढ़कर गया ऊपर, और पुकारने लगा—" हीरा, ओ हीरा, यह बर्तन ले जा। "

हीरा नौकर का नाम था। हीरा तो नहीं आया, पर देखता क्या है कि बहूरानी ही, मुँहपर थोड़ा-सा घूँघट डाले बर्तन लेनेको आ गई हैं। वह तो जैसे सब भूल

गया, और जाने कब उसके हाथमेंसे बर्तन ले लिये गये, और बहूरानी चली गईं। एकाध मिनट सुध-बुध खोया-सा वह वहीं खड़ा रहा, फिर चला आया।

उसी रातको उसके मनमें फूटा उसका पहला चित्र। वह चित्र फिर कन्वासपर उतरा, बिका, और उसने फिर राजीवको राजीव बना दिया।

किन्तु भाग्य ही तो है। जब वह खुले ही तो उस कोषमेंसे क्या-क्या नहीं निकलेगा, कोई जानता है! चार-पाँच वर्षमें उसका विवाह भी हो गया। और तब कल्पनाके पीछेकी अवगुण्ठनावृत रानी बहू खुले सत्यमें उसकी भी भाभी हो चलीं। तब देखा कि इस स्थूल शरीरमें बड़ा चुहलबाज़ दिल है। वहींसे भाग्य देव भी पलटकर बरस पड़ने लगे, और राजीव मानो जीवनमें अपना उद्दिष्ट कर्म पा गया।

अब आप जानिए, होली होली है। राजीव सौम्य प्रकृतिका है, इससे क्या उसे छोड़ दिया जाय? भाभी ऐसी क्या पस्त-हिम्मत हैं? हाँ, हाँ, राजीव साहब बड़े ही बुजुर्ग, बड़े ही सज्जन हैं, लल्लो-पत्तो भी जानते हैं। लेकिन यों बचनेसे दुर्गति दुगुनी होगी, जान लीजिएगा। क्योंकि होली होली है और भाभी भी भाभी है।

उस वर्ष राजीवकी खासी मरम्मत हुई। और तो और, उसकी नवेली पत्नी भी भाभीके षड्यन्त्रमें शामिल हो गई। तब राजीवने भी कमरसे साहस बाँधकर बचावमें थोड़ा कुछ ऊधम किया-कराया।

उस रोज़ खुल पड़ी हुई आनन्दकी बयारने राजीवकी जीवन-नौकाके पालोंको ऐसा भरपूर भर दिया कि वह उड़ती ही चली गई। वह तमाम संवत्सर तैर गया हो, मानो ऐसे निकल गया। इस वर्ष राजीवकी परिस्थिति भी खूब सुधर आई, माँग बढ़ उठी और उसकी पहुँच ऊँचाइयोंमें होने लगी।

इसी तरह कई वर्ष निकलते गये।

जिस होलीकी बात कहने चले हैं, उसके लिए तय पा गया था कि भाभीजी बड़ी तमीज़दार हैं और बड़ी अच्छी हैं, सो राजीवको माफ़ ही रखेंगी।

तय तो पा गया था, किन्तु होलीसे दो रोज़ पहले बात-बातमें जब अजब गम्भीरतासे भाभीने कहा—देखो, उन्हें अच्छा नहीं लगता। और कुनबेमें एक गमी भी हो गई है। अबके कुछ दंगा मत मचाना।

तब अनायास राजीव कह उठा—यह बात है!

भाभीने कहा—नहीं भाई, मैं हाथ जोड़ती हूँ, इस बार घरमें रंग-वंग कुछ भी न होगा।

राजीवने कहा—मैं तो डालूँगा।

अति विनीत होकर भाभीने कहा—तुम्हारे हाथ जोड़ती हूँ राजीव! अबके गमी हो गई है। नहीं तो मैं कभी ऐसा कहती हूँ?

राजीव भाभीके इस अनुनीत भावपर मन-ही-मन शंकित और त्रस्त हो आया। उसने मानो लाचार होकर कहा—अपनी बारीको भाभी, तुम ऐसा कहती हो!

और भी कातर होकर भाभीने कहा—मैं तुमसे कहती हूँ, देवर बाबू! नहीं तो भाभी भला कभी कुछ कहती है। उन्हें यह सब अच्छा नहीं लगता।

'उन्हें' अर्थात् पतिको! पति अति शुद्ध-हृदय और खुली तबीयतके आदमी हैं। राजीवसे जब मिले हैं, बड़े प्रेमपूर्वक मिले हैं। पर वह काम-काजी हैं, और राजीव उनके इतने निकट नहीं हो सका है। और...

राजीवने मानो बड़े साहसपूर्वक कहा—अच्छा, होली आने दो, तब देखेंगे।

राजीव परिस्थितिको बिलकुल समझता ही नहीं, सो नहीं। इससे होलीसे ठीक पहले दिन अपने एक मित्रके अनुरोधपर राजीवने मित्रसे कह दिया—अच्छी बात है, मोटर ठीक सवा-नौ बजे मुझे घरसे ले ले। मैं तैयार मिलूँगा। प्रोग्राम साढ़े-नौका है न?

राजीव अपने मनमें जानता है कि उसे होलीका हुड़दङ्ग पसन्द नहीं है। उस रोज़को भाभीकी आर्त्त-सी बनी वाणीपर रह-रहकर उसकी स्मृति जाती है। उसे लगता है, वह कुछ समझता भी है। फिर भी हठात् उसके मनमें शङ्का रही ही आती है कि कहीं होलीके दिनके लिए भाभीके भीतर कोई शरारत तो नहीं दुबकी है। उसने सोचा है, जो भी हो, सवा नौतक अपने कमरेसे बाहर वह पैर भी नहीं रखेगा, और फिर मोटर आई कि चल ही देगा। होली बीत चुकेगी, तब शामको कहीं लौटेगा। सब बिलकुल ठीक है।

किन्तु जब सिरपर दुर्दैव ही खेल आये तो—? और विरञ्चि बाबाके मनका हाल भला कौन जान सकता है? जब राजीव ने मोटरकी बात अपने मनमें पक्की कर ली, तब सब प्रपंचों के रचयिता वह बाबा विरञ्चि ऊपर बैठे-बैठे मुस्कराये होंगे। कहते होंगे—'देखो लड़केकी बात! अरे, हम फिर कुछ ठहरे ही नहीं! जो ये दुनियाके

छोकरे हमें बिना बूझे सब करने लगेंगे, तो हो लिया काम।' और उन्होंने उस समय कौतुकपूर्वक ओठों-ही-ओठोंमें कहा होगा—'अच्छी बात है, चिरंजीव राजीव! तो लो क्रीड़ा देखो।'

मोटर सवा-नौपर आती, राजीव क्या देखता है कि उससे पहले ही चले आ रहे हैं, डाक्टर सीताशरण! गुलाबसे मुँह रँगा है, और कपड़े तरबतर है।

राजीवने कहा—क्या हाल है, डाक्टर साहब?

डाक्टर ने बताया कि ये बालक बड़ी बला होते हैं। देखते तो हो कि क्या गति बना दी है। घरसे अच्छा-भला चला था, यहाँ आतेतक खासा लंगूर हो गया हूँ।

उसके बाद डाक्टरने पूछा कि यह क्या है? राजीव घरमें बन्द क्यों है? क्या अकेला है? श्रीमती कहाँ हैं? छोड़ गई?—चलो छुट्टी हुई।

राजीवने कहा कि नहीं, ऐसी शोचनीय परिस्थिति नहीं है। फिर भी मायके गई है। तभी तो वह जरा चैनसे दिखाई देता है।

उस समय जेबमेंसे डाक्टरने चुपके-से रंगीन पानीसे भरी एक शीशी खींची।

राजीवने किन्तु देख लिया, कहा—हे-हें डाक्टर! मुझे पार्टीमें जाना है।

'डरो मत', डाक्टरने कहा—'यह जादूका रंग है' और राजीवके बहुतेरा कहते-कहते और भागते-बचते डाक्टरने उसके उजले कपड़ोंपर रंग छिड़क ही दिया और मुंहपर जरा गुलाल भी मल दिया।

"घबराओ नहीं राजीव, देखो, रंग अभी गायब हो जायगा।" और सचमुच पानी सूखते-सूखते कपड़ेपर ज़रा भी रंगका धब्बा नहीं रहा।

राजीव अप्रत्याशित भावसे कह उठा—यह तो बहुत ठीक बात है, डाक्टर, ऐसा और रंग तुम्हारे पास है?

डाक्टरने कहा—'जितना चाहो' और जेबमेंसे आठ-दस पुड़ियोंका बण्डल-सा निकालकर सामने रख दिया।

"आधा-पाव गुनगुने पानीमें एक पुड़िया डाल दो, बस, रंग तैयार। कई रंग की पुड़ियाँ हैं।"

अनायास राजीवने पाँच-सात पुड़िया उठा लीं, और उतनी ही शीशियाँ निकालकर उसने जादूका रंग तैयार कर लिया। और त्वरा-ग्रस्त हो उसने कहा—देखना डाक्टर, क्या बजा है?

"साढ़े-नौ होनेवाले हैं, पाँच-सात मिनट हैं। अच्छा, मैं चलूँ।" और डाक्टर चले गये।

तब मुँहका गुलाल धोकर साफ़ किया, शीशा देखा, बाल ज़रा ठीक किये और शीशियाँ होशियारीसे जेबमें सँभाली। और राजीव लपककर चला ऊपर। चुप ही चाप पहुँचा। देखा, भाभी बेफिक्रीके साथ अन्दरके कमरेमें पान बना रही हैं, और एक ट्रंक खुला पड़ा है। अचक, पैर रखता-रखता भाभीके पीछे वह पहुँचा और पहुँचते-पहुँचते तीन-चार शीशियोंके मुँह खोलकर एक साथ कई रंग भाभीकी साड़ीपर छिड़क दिये।

भाभी एक साथ चौंककर मुड़ीं, देखा – राजीव! वह पहले तो शायद मुस्कराने को हुईं। राजीवको ऐसा भी लगा कि कहीं होशियारीसे झपटकर उसके हाथसे शीशी ही उड़ा लेनेवाली तो यह नहीं हो रही हैं। किन्तु तत्क्षण फीकी और चिन्तित पड़कर उन्होंने कहा—नहींजी, यह हमें अच्छा नहीं लगता।

राजीव सामने हँसता हुआ खड़ा। उसका मनसूबा था कि गुलालकी भी एक रेख भाभीके माथेपर लगायगा, पर कहनेको वह हँसता रहा ; लेकिन मन उसका जैसे एक साथ बँधकर खड़ा हो गया था। भीतर-भीतर जैसे उसे परिताप हो रहा था, भाभीके मुखपर ऐसी कुछ व्यथाकी छाया थी।

"नहीं-नहीं" भाभीने कहा – "हमें यह बिलकुल अच्छा नहीं लगता है। तुम जाओ।"

राजीवने कहा--"भाभी, यह जादू का रंग है। अभी उड़ जायगा।"

भाभीने कहा—"नहीं, तुम जाओ।"

अपनी स्वच्छ कमीज़का पल्ला आगे पकड़कर राजीवने कहा—'यह देखो' और उस पल्लेपर थोड़ा-सा रंग छिड़क लिया। "देखो, तुम्हारे सामने-सामने यह उड़ जाता है या नहीं।"

सचमुच, रंग तो नामके धब्बेतकको वहाँ न रहा। राजीव आश्वस्त भावसे हँसा।

भाभीने कहा—नहीं, नहीं, तुम जाओ।

राजीव बोला—भाभी!

भाभीने अनुनीत होकर कहा—हमारे यहाँ गमी हो गई है। नहीं, नहीं, तुम जाओ।

राजीव जिस उत्साहको लेकर यहाँ आया था, वह तो अब उसे बिलकुल छोड़ ही चला। उसने कहा —भाभी, इस रंगसे कपड़े बिलकुल खराब नहीं होंगे।

भाभीने चुपचाप मुँह फेरकर पान लगाना शुरू कर दिया। फिर मुड़कर पानकी तहकर उसे देते हुए कहा—यह पान लो राजीव, और तुम जाओ, देखो।

भाभीकी वाणीमें कुछ वह बात थी, जिसका राजीव उल्लंघन जीते-जी कभी कर ही न सकता था। उसने कहा—जाऊँ ?

"हाँ, जाओ।"

"तो, लो, यह शीशियाँ। मैं इनका क्या करूँगा ?"—राजीवने खिन्नभावसे हाथ फैलाकर उन्हें आगे किया।

बिना कुछ कहे शून्यभावसे भाभीने भी हाथ बढ़ाकर उन्हें ले लिया।

राजीव तब मौन खड़ा रह गया। भाभी भी कुछ नहीं बोलीं। उसी समय ज़ोर-ज़ोरसे बजते हुए मोटरके हॉर्नकी आवाज़ आई। राजीवने कहा—'अच्छा भाभी' और झटपट झुककर खड़ी हुई भाभीके चरण छूकर वह जल्दी-जल्दी लौट आया। आकर बैठकका दरवाज़ा खोला, बाहर बरामदेमें जो गया कि देखता है, मोटरमें स्वयं लाला शिवशंकरलाल बैठे हैं।

शिवशंकरने देखते ही कहा —क्या बना रहे हो, राजीव ? चलो न।

राजीवने कहा —'बस, आ ही रहा हूँ। दो मिनट।' और अन्दर जाकर झपट-कर बाँहोंमें कोट डाला, पतलून चढ़ाई, टाईको खुला ही लटकने दिया, हैट रखा, छड़ी थामी, बैठकके किवाड़ दिये, मोजे और उसपर बूट पहना और सहनसे होकर मकानकी ड्योढ़ीकी ओर लपका।

सहन पार कर रहा ही था, एक साथ बाल्टीभर गरम रंगीन पानी ऊपरसे ऐन उसके सिरपर आकर पड़ा, ऐन सिरपर ! उसकी चोटसे हैट नीचे आ रहा, कपाल भीग गया और कपड़े सब खराब हो गये !

किन्तु उस समय राजीवका जी फूलसा खिल आया। जैसे वह इस भाँति नहाकर धन्य हो उठा। उसने बिगड़कर धमकीके स्वरमें कहा—"यह कौन है ? दीखता नहीं है कि कोई भला आदमी कहाँ जा रहा है !"

इसके उत्तरमें बड़ो ज़ोरसे खिलखिलानेकी ध्वनि राजीवके कानोंमें पड़ी।

'हाँ—आँ ?' और ज़ोरसे बूटोंको सहनके फ़र्शपर पटकता हुआ वह उसो मुँह

अपने कमरेमें लौटकर आया, धोती पहनी, पैरोंमें चप्पल डाली, और बैठकके किवाड़ खोल सामने बरामदेमें आया।

वहाँ उसे देखते ही मोटरमेंसे शिवशंकरने कहा--अजब आदमी हो। अबतक चल ही रहे हो! ऐसे चलोगे?

राजीवने बरामदेके नीचे सड़कपर आकर कहा—अब नहीं चल सकूँगा।

"क्यों?"

"यह औरत-जात बड़ी खराब है जी। मैं तो अभी बाज़ारसे पक्का रंग लेकर आता हूँ!...हाँ, चलो तुम्हारी मोटरमें चलूँ।"

शिवशंकरने कहा—क्यों, तो साथ नहीं चलोगे?

"साथ चलूँगा? देखते तो हो, यह सिरका हाल। बाज़ारसे रंग लाकर इस सिरकी अब मरहमपट्टी करनी होगी।"

बाज़ार आनेपर राजीव वास्तवमें ही मोटरसे उतर गया। माने न माना। इतने ही में उसे सामनेसे आते दिखाई दिये, भाई साहब—यानी जिनको भाभीके नाते राजीव जानता था। हँसते हुए आ रहे थे, कपड़े उनके भी रंग-बिरंगे हो रहे थे, हाथमें रूमालमें फल लटके थे, एक ओरसे सेंध बनाकर दो चोइल ककड़ियाँ निकल रही थीं और भीतरसे लौकाट उभक रहे थे।

पूछ उठे—कहिए, कहाँ?

राजीवने कहा—कुछ नहीं, यों ही।

"मोटरमें ये कौन थे?"

राजीवने कहा—लाला शिवशंकरलाल थे।

"अच्छा!"

और 'अच्छा' कहकर भाईसाहब आगे बढ़ गये।

राजीवका उत्साह हठात् कुछ मंद हुआ। फिर भी जैसे एक मद सवार था। दुकानसे कई तरहके रंग लिये, घर आकर उन्हें घोला और लोटा भरकर पहुँचा वहीं ऊपर।

भाभीका छोटा बालक, जिसका नाम पड़ा था, छोटे, और जो बड़ा खोटा था, छज्जेपर खड़ा था। राजीवको चढ़ते देख, वहींसे बोला—भाभी, ओ भाभी, चाचा आ रहे हैं!

और, पर्याप्त-काया भाभी, यह सुनते ही, सब काम छोड़ फुर्तीसे भाग छूटीं। भागकर भीतरके कमरेमें भाग गईं। जल्दीमें किन्तु उसके पट ठीक तरहसे उनसे बन्द नहीं हुए और वह हाथके जोरसे उन्हें बन्द किये हुए उनके पीछे डटी खड़ी हो गईं।

राजीव ऊपर आया तब उसी खोटे छोटेने इशारेसे बताया कि भाभी हाँ, उस पीछे-वाले कमरेमें हैं। उधरको बढ़ता ही था कि ज़ोरकी डपटकी आवाज़ आई—क्या है?

आवाज़ कम काफ़ी न थी, उसपर स्वयं भाईसाहब भी सामने आये। अजब डाँट उनकी मुद्रामें थी। बोले—क्या है?

राजीवने कोठरीकी ओर बढ़ते हुए ही कहा कि कुछ नहीं।

"कुछ है भी?" – और ज़ोरसे भाईसाहबने कहा।

"रंगका लोटा है।" राजीवने धीमेसे कहा। कहकर भाईसाहबके देखते-देखते वह कोठरीकी ओर बढ़ा और लोटेको बायें हाथमें लेकर दायें हाथसे उसने किवाड़ोंमें जा धक्का दिया।

भाभीने पूरा ज़ोर लगाकर किवाड़ बद रखे। भाईसाहबने चिल्लाकर कहा—राजीव!

राजीवने कहा—'रंग तो हम डालेंगे।' और किवाड़में दूसरा धक्का दिया।

कमरेके पीछेसे छज्जे-छज्जे एक दूसरे मकानमें जाया जा सकता है। वहाँ एक सद्‌गृहस्थ रहते हैं। आर्यसमाजके वह एक उत्साही सदस्य हैं और रेलवेके हिसाब-दफ्तरमें काम करते हैं। चित्रकलाके प्रशंसक और पारखी हैं। राजीवके एकाध चित्रोंमें भी उन्होंने ड्राइंगका ठीक होना स्वीकार किया है। उनकी दृष्टिमें राजीव हाँ, होनहार हो भी सकता है। उन सज्जनकी अवस्था तोस-बत्तीस होगी। पर बुजुर्गी उन-पर कच्ची नहीं बैठती। वह चश्मा लगाते हैं, और उनके पाँच लड़के हैं। भाईसाहबके हितैषी हैं। यह सज्जन ज्यों-ज्यों सोसाइटीमें राजीवकी कलाकी बड़ाई सुन लेते, त्यों-त्यों उसके प्रशंसक होना स्वीकार करते जाते है। किन्तु राजीवके रंग-ढंग कुछ उन्हें अच्छे नहीं लगते। उसके स्वभावके साथ जो एक प्रकारका खुलापन है, उससे इन सज्जनके चित्तमें आपत्ति बनी रहती है कि राजीवको प्रौढ़ होनेकी आवश्यकता है, वह जिम्मेदार आदमी नहीं है।

जब भाभीने पाया कि किवाड़ 'अब खुले और अब खुले!' तब सहसा उन्हें

छोड़कर पीछेकी ओर वह भाग खड़ी हुईं। बस, छज्जे परसे दूसरे घरमें चली जायँगी। 'तब ताका करें राजीव बाबू ; हाँ — तो, आये हैं बड़े…'

किन्तु छज्जेका इकपटा खोला ही था कि सामने पड़े वही शुद्ध आर्य सद्-गृहस्थ सज्जन! वह कुर्सीपर इधर ही देखते हुए बैठे हैं, हाथमें किताब है। भाभीने एकदम लम्बा घूँघट खींच लिया। वह ठिठकी और काठमारी-सी रह गईं। छिः-छिः, वह वहाँ गड़ ही क्यों न जा सकी।

सज्जनने सावधानतापूर्वक एवं मिठासके साथ कहा—ओह, सेठानीजी हैं!

तभी पीछेसे राजीवकी आवाज़ भाभीके कानोंमें पड़ी—अब कहाँ जाओगी, भाभी!

राजीव बढ़ता हुआ पास ही आ गया। भाभीको सब सूझना बंद हो गया। वह मानो काँपने लगीं।

राजीव विजय-गर्वमें बोला — अब कहो!

हाय-हाय, अब क्या होगा! राजीव जीतेगा! जीतेगा? मुझसे जीतेगा? अच्छा!…भाभीको आव दीखा न ताव, वह सामनेकी ओर भाग खड़ी हुईं। कुर्सी-पर बैठे बाबूसे छूती हुईं, उनकी रसोईमेंसे भागतीं, दालान पार करतीं, फैले सामान-को फाँद, उस घरके छज्जेमेंसे हो, जीने चढ़, हाँफतीं और फलाँगतीं, वह जा पहुँचीं उस घरकी छतपर। पहुँचकर झट अपने पीछे पट बन्द कर दिये और उनपर कुण्डी चढ़ा दी। फिर उस निर्जन तपती छतपर, अकेली, कड़ी घाममें, पत्थरपर साँस लेती हुई बैठ गईं। उन्हें चैन पड़ा कि अब छकाया राजीवको।

किन्तु इस चैनके पगभर पीछेसे उनके चित्तमें आ पैठा उनकी स्थितिकी विष-मताका बोध, जो उनको समूचा ही मानो निगल जाने लगा। तब वह बड़ी ग्लानि और बड़ा त्रास भी अनुभव करने लगीं।

भाभी भागीं तो हाथमें लोटा लिये पीछे-पीछे चला राजीव! सामने पड़े वही बाबूजी। उन्होंने सात्विक झिड़कीके साथ टोका—यह क्या है, राजीव?

राजीव बिना उस ओर ध्यान दिये आगे बढ़ा। बढ़ा, कि तभी ठिठककर भी रह गया। आगे तो एक अपरिचित महिला (बाबूजीकी धर्मपत्नी) अपने चौकेमें हैं! उसके पैर जैसे बँधे रह गये।

उस घरमें और कई वयःप्राप्त लड़के-लड़कियाँ थीं। सबको इस नये ऊधमपर बड़ा कौतुक लग रहा था। कभी वे उन भाभीको देखते, जिनके लिए उनके मनमें बड़ा

संभ्रम था। वे तो आस-पास सब लोगोंके मनोंमें सेठानीजीके रूपमें ही अंकित थीं, सम्भ्रान्त और आदरणीय। सबकी निगाहोंमें वह तो अतिविशिष्ट ही थीं। तब फिर यह क्या है? और कभी वे इस राजीवको देखते, इस निगाहसे कि कुतूहल तो उन्हें है, पर जैसे वे जानना चाहते हैं कि यह है कौन आदमी!

बाबूजीने कहा – It is not decent, Sir.

राजीवका मन भीतर-ही-भीतर उसे काट-काटकर कहने लगा – It is abominable, Sir. इससे भी तीखे विशेषण उसे अपने लिए उपयुक्त मालूम होने लगे। किन्तु वह हाथमें रंगका लोटा लिये खड़ा ही रह गया, उत्तरमें कुछ भी न कह सका।

किन्तु लड़कियाँ! माना, वे बला हैं, किन्तु दुनियामें क्या उनसे हारना होगा? भाभीके आस-पाससे (क्योंकि भाभीकी ध्वनि भी उनमें उसे चीन्ह पड़ती थी) अपने पराजयपर खिलखिल हँसी जाती हुई सुनी, उसने कलकंठिनियोंकी व्यंग्यकी हँसी, मानो कि ललकार हो। उसने उसे डंक मारकर चेता दिया। अबलाकी ओरसे सबलको चुनौती? – तो अच्छा!…

राजीव भी तब उसी भाँति चौकेको, दालानको और छज्जेको लाँघता हुआ कुछ ही छलाँगोंमें जा चढ़ा ज़ीनेपर! ज़ीनेके छोरपर पाया मार्ग अवरुद्ध और द्वार बन्द। उसने झटककर द्वार खोला। किन्तु वे तो विरोधमें कुछ स्वर करके भिड़े ही रह गये। इसपर उसके कानोंपर बजी धारदार फिर भी संगीत-सो कोमल कई कण्ठोंकी कल-कल हँसीकी ध्वनि!

उसने कहा – अच्छा भाभी, कभी तो उतरोगी।

कहकर थोड़ी देर वहीं खड़ा रहा। फिर नीचे उतर आकर छज्जेपर आ खड़ा हो गया।

दो-एक मिनट प्रतीक्षामें खड़े रहनेपर उसने सुना, ऊपर लोहेके जालपर झुकी भाभी कह रही हैं—रंग डालोगे?

"हाँ, डालूँगा।"

"तो मैं नहीं उतरूँगी।"

"मत उतरो।"

थोड़ी देरमें भाभीने कहा—कबतक खड़े रहोगे?

राजीवने कहा—और तुम कबतक वहाँ रहोगी?

भाभीने कहा—अच्छी बात है !

राजीवने भी कहा--अच्छी बात है !

इधर यह था, उधर बाबूजीने भाई साहबसे कहा—आपने बहुत ढील दे रखी है, लालाजी !

वास्तवमें भाई साहबमें भाभीजीके प्रति अतीव प्रेम है। वह प्रेम आदर तक पहुँच गया है। घरकी ओरसे जो भाई साहब सदा सर्वथा निश्शंक रहे हैं, यह सब भाभी-जीके भरोसे ही तो। किन्तु वही उनकी पत्नी आदरास्पदसे कुछ और हों, यहाँतक कि लोगोंके कौतुक और कुतूहलकी विषय हों, यह एकदम उनके चित्तको दुर्विसह्य जान पड़ता है। और यह व्यक्ति, राजीव ! ओह इस स्थलपर तो उन्हें अपना--पतिका- एक पति नामक संस्थाका अति दुस्सह असम्मान ही होता हुआ जान पड़ता है। प्रभुताके प्रति ऐसा अपराध ! स्त्रीकी ओरसे ऐसी अवज्ञा, ऐसी अवगणना ! छिः, छिः !

भाई साहबने ज़ोरसे पूछा—वह कहाँ है ?

बाबूने पूछा—कौन ?

'कौन ?' एक ही प्रश्नमें उसकी पत्नीके साथ कोई दूसरा भी आ सकता है, जिसे प्रश्न करके अलग छाँटना होगा— 'कौन ?' इस बातपर भाई साहबको अतिरोष हुआ। उन्होंने ज़ोरसे कहा—कौन क्या होता है, बाबू ?

बाबू इस प्रश्नपर असमंजसमें रह गये, और भाई साहब धड़धाते हुए आगे बढ़ गये। छज्जेपर पहुँचकर राजीवको देखकर दृढ़ स्वरमें उन्होंने पूछा वह कहाँ है ?

"ऊपर हैं।"

सब सन्नाटा था। मानो जो होनहार है, उसकी अब प्रतीक्षा ही करते बनेगी, और कुछ न हो सकेगा। और भाई साहब ही वहाँ युगयुगानुमोदित पतित्व के स्वत्व-रक्षककी भाँति खड़े थे।

भाई साहबने ऊपरकी ओर डपटके साथ कहा—"चलो, नीचे चलो।"

सब सुन्न।

"सुनती हो ? चलो, नीचे आओ।"

एकदम सुन्न।

"सुना नहीं जाता है, कि मुझे और चिल्लाना होगा ?"

थोड़ी देरमें डरती-डरती आवाज़में एक लड़कीने कहा—"यों कहती हैं कि उन्हें हटा दो।"

भाई साहबने उद्धत रोषको संयत करते हुए कहा—राजीव, तुम नहीं जाओगे?

आ पड़ी इस विषम परिस्थितिके नीचे राजीव भयभीत हो उठा था। फिर भी मानो उसकी आत्मा आतंक अस्वीकार करना चाहती थी। उसने कहा—मुझपर रंग डाला गया था, भाई साहब! और मैं भरा लोटा नहीं ले जाऊँगा।

भाई साहबने भयंकर स्थिर वाणीमें कहा—अच्छा, चलो। वह आती है।

राजीव चला गया, तब भाई साहबने उसी अकम्प स्वरमें कहा—अब चलो, उतरो।

उसी लड़कीने ऊपरसे कहा—कहती हैं, आप चलें। मैं आ रही हूँ।

ज़ोरसे पैर पटककर भाई साहबने कहा—'फौरन् आये। सुना?' और वह उसी भाँति धमकते हुए पैरोंसे लौट आये।

भाभी एक ही धोती पहने थीं। शरीरके चारों ओर उसे ठीक किया, और ज़ीनेके द्वार खोल, वह धीरे-धीरे, डग-डग, चलती चली आईं। किसीके मुँहसे एक भी शब्द न निकला।

छज्जा पार किया, कोठा पार किया, उससे आगेके दालानसे निकलती हुई, सहनके ऊपरके छज्जेपरसे रसोई-घरमें चली जायँगी। दालानके कालीनोंपरसे भाभी जा रही थीं कि उन्होंने देखा, छज्जेके कोनेमें लोटा लिये राजीव खड़ा है, और उससे आगे-वाले कमरेमें ही कुर्सीपर उनकी (भाभीकी) ओरसे मुँह फेरे मूर्तिमान संकल्प बने भाई साहब स्थिर भावसे कुर्सीमें बैठे हैं।

भाभीने कालीनपर खड़े-खड़े हाथ जोड़कर इशारे-इशारेमें कहा—राजीव, जाओ। देखो, चले जाओ।

किन्तु, हाय-हाय भाग्य, अब भी तो राजीवने भाभीके उन ओठोंपर स्मितकी क्वचित् रेख पाई। अरे, अब भी तो व्यंग्य सर्वथा वहांसे अनुपस्थित नहीं है। वह रेख अब भी तो बाँकी ही है। हाय, अब भी तो मानो वह चुनौती चुप होकर बैठी नहीं है; बुला रही है, बुला ही रही है।

राजीवने कहा—देखो, मैं ग़लीचा खराब करना नहीं चाहता। आगे आओ।

भाभीने अति संकटापन्न मुद्राके साथ गुनगुनाकर कहा—नहीं, नहीं, राजीव, हम-पर रहम करो।

रहम ? उन् ओठोंकी संधियोंमें अरे, है भी कहीं रहमकी दरख्वास्त ? क्या उसमें नहीं है कि मैं अपराजिता हूँ ? कि पुरुषके निकट स्त्री कभी पराजित नहीं है ? अपराजिता ही मैं हूँ ।

राजीवने कहा — भाभी !

उसी समय भाई साहबने इस ओर देखकर जाने कैसी वाणीमें कहा—क्या है ?

स्वर होते हैं, जिनकी कोई श्रेणी नहीं होती। जिनमें एक ही साथ जाने क्या-क्या कुछ नहीं होता। जिनमें क्रोध होता है अपार, किन्तु जो सर्वथा शान्त और निष्कप भी होते हैं। वज्र-दृढ़, किन्तु ह्रस्व-घोष। उनमें एक ही साथ मनकी वेदना होती है और रोष भी। उन्हें सुनकर आदमीको हिलना हो होता है।

गूँज उठी—"क्या है ?"

और राजीवने देखा, भाभीका मुँह फक्, पीला, पके पत्ते-सा हो गया है।

पर अब भी क्या वहाँ अबलताकी चुनौती लिखी ही नहीं है ? क्या वह तनिक भी मिटी है ? उस भयभीत मुखपर तो अब मानो पौरुषके हाथों दबकर और भी दुर्दमनीय, परास्त होकर और भी अविजेय, स्त्री होनेके कारण और भी हठीली होनेका संकल्प अक्षरोंकी भाँति स्पष्ट होकर लिख आया है। ओठोंके कोनोंके चारों ओर वही तो है, अरे वही है !

राजीवने कहा—मेरा लोटा तो अभी भरा-का-भरा ही है।

"तू रंग डालेगा ?"

"डालना तो चाहता हूँ।"

" अच्छा ! "

कहनेके साथ भाई साहब उठे। स्थिर डगके साथ चलते हुए आये। तनिक-तनिक घूँघटकी कोर माथेके आगे है, और भाभी खड़ी हैं। भाई साहबने आकर उनके दोनों हाथ पकड़े। कहा—चल री चल, रंग डलवा।

भाभी वहीं-की-वहीं बैठ गईं, उनकी बाँहें भाई साहबके हाथोंमें थमी मुरड़ती चली गईं।

दोनों बाँहोंसे ज़ोरसे भाभीको खचेड़ते हुए भाई साहबने कहा—रंग डलवा। वह खड़ा है।

भाभी वहींकी हो रहीं; सरकीं भी नहीं। जोरसे उनकी कमरमें लात मारकर भाई साहबने कहा—अब डलवाती क्यों नहीं रंग ?

राजीव लोटा हाथमें लिये सुन्न-का-सुन्न रह गया।

भाभी चुप। न आँखमें उनके आँसू निकले, न मुँहसे कुछ निवेदन।

ज़ोरसे हाथोंको झटककर और दो-तीन लातें एक साथ जमाकर उन्हें खचेड़ते हुए ही भाई साहबने कहा—अरी देख तो, कैसा रंग है ? चल डलवा, रंडी !

राजीवकी आँखोंने देखा—दो-तीन-चार, एक साथ दोनों हाथोंकी कई काँच-की चूड़ियाँ चट-चट टूट गई हैं, और उनके टुकड़ोंने चुभकर भाभीकी कलाइयोंमें जगह-जगह लाल-लाल लोहूके सोतोंको छेद दिया है। अब भाभीकी एक बाँह भाई साहबके हाथमें है, दूसरी कालीनपर टिकी है। उस बाँहकी कलाईपर फस्दके पासके एक बिन्दुपर राजीवकी दृष्टि जकड़ गई है। यह रक्तबिन्दु वहाँ उत्साहके साथ मानो क्षण-क्षण फूलता आ रहा है।

" अरी बढ़ती नहीं है ? कालीनपर वह रंग नहीं डालेगा, और वह रंग लिये खड़ा है।" अनन्तर लात और लात और...

राजीवने सहसा जोरसे लोटा फेंक दिया। आगे बढ़कर कहा—भाई साहब ! क्या करते हैं ?

क़ब्रके-से ठंढे स्वरमें भाई साहबने कहा—तू रंग डालेगा न ! ले डाल।

राजीवने आर्त्त-भावसे पुकारा—भाई साहब !

'अरे जा, तू जा।'

राजीव चुप।

भाई साहबने एक साथ चीखकर कहा--जा, जा। नहीं तो मैं जानवर हो सकता हूँ।

भाई साहबने यह कहा और वह मानो ठिठके रह गये। उसके बाद फिर एक साथ भाभीका हाथ छोड़, लौटकर तेज़ीसे कमरेमें चले गये और अपने ऊपर दरवाज़ा बन्द कर लिया।

राजीवने देखा, भाभी फ़र्शको टकटकी बाँध देख रही हैं। आँखोंसे न आँसू निकला है, न मुँहसे निवेदन। हाँ, कलाइयोंमेंसे जगह-जगहसे फटकर लहू ही खुल-

कर निकला है। हाथ वैसे ही कालीनपर टिका है, सिर उघड़ गया है, और भाभी बैठी हैं कि बैठी ही हैं। अरे, बैठी ही हैं।

राजीव मुग्ध-सा देखता रहा। फिर एक साथ भाग आया।

* * * *

यह बीस वर्ष बीतेकी बात है। मुझे राजीव कल मिला था। कहता था, उस दिन के बाद कल दोपहर ही उसे वह भाभी मिली थीं। सराय बाज़ारमें जो राजीवकी जायदादमें दस-दस रुपयेवाले क्वार्टर हैं, उन्हींमें एक अपने लिए लेनेके सिलसिलेमें वह उसके पास आई थीं, वह अब बुढ़िया है। राजीवको विश्वास है, भाभीने उसे पहचान लिया है। किन्तु किसी पहचानका जिक्र उन दोनोंके बीचमें न हुआ, और राजीवने अन्तमें कहा कि क्वार्टर नहीं दिया जा सकेगा। उन भाभीके सम्बन्धमें अपनेको जायदादवाला पाये, समझे, क्या यह दंभ राजीवसे झेले झिलता? इससे कहीं अधिक सह्य तो उसे निष्ठुरता ही हो सकी, इससे निस्संकोच उसने कहा कि क्वार्टर कोई खाली नहीं है।

कल ही मुझे राजीवने छुट्टी दी है कि उसकी कहानीके साथ मैं इच्छापूर्वक व्यवहार कर सकता हूँ। सो यह पेश है।

नारदका अर्घ्य ५

संध्या हो रही थी। उस समय दोनों भाई धनराज और जनराज कामसे हटकर घरकी ओर लौटकर चले। एकने बैलोंको खोलकर आगे ले लिया, दूसरेने हल सँभाला, और वे दोनों अपने परिश्रमके सुखमें चूर, होनहारकी ओरसे निश्शंक, घरकी और खेतकी बातचीत करते हुए चले जा रहे थे।

घर आकर दोनों अपने-अपने काममें लग गये। एक बैलोंको सहलाकर दाना-पानी डालने लगा, दूसरा घरकी देख-रेखमें लग गया। उनका खेत अच्छा नाज देता था और भगवान् भी सदा उनके सहाय रहते थे। खेतके हरे-हरे पौधे बढ़कर जब बाल दे आते, तब वे परमात्माका धन्यवाद मानते थे। और उसकी प्रकृतिकी इस लीलापर विस्मित हो-हो रहते थे कि एक बीजसे सहस्रों दाने बन जाते हैं। उनका मन इस सबके रहस्यपर प्रकृतिके अधिपति उस परमेश्वरका बहुत ऋणी हो आता था और तब दोनों भाई कृतज्ञताके आँसुओंसे भरे एक दूसरेके लिए जीने और एक दूसरे के लिए मरनेकी लालसासे भीगे हो रहते थे।

*　　　*　　　*　　　*

महादेव शिवशंकर उस समय कैलाशके शिखरपर व्याघ्रचर्मपर आसीन ध्यानस्थ बैठे थे। उनकी आँखके नीचे बहुत दूर कन्दुकाकार पृथ्वी शनैः-शनैः अँधियारी पड़ती जा रही थी। उस बूँद सी धरतीके चारों ओर और नाना परिमाण और आकारकी असंख्य कंदुकाएँ, कुछ प्रकाशित कुछ अँधेरी और बहुतेरी वाष्पमय, आल-जाल बना रही थीं। उनकी दृष्टिके तले समस्त शून्यमें छाई वे छोटी-बड़ी गेंदें मानो भ्रमित गतिसे एक दूसरेको लपेटती हुई फिर रही थीं।

भगवान् शंकरके नेत्र इस समय आधे मुँदे थे। वह अपनी लीलाको देखकर मानो आप ही संभ्रमित हो रहे थे।

स्वामीकी ऐसी हालत पार्वतीजोको नहीं भली लगती। उनसे अन्यत्र होकर यह जगका जगड्वाल क्या है, जो स्वामीको अपनेमें फाँसेगा। वह भगवान्के पास गईं। लेकिन भगवान्को अपने जगद्बोधसे चेत नहीं हुआ। आधे ढके और आधे व्यक्त, अविराम गतिभ्रममें चकराते हुए माया-पिंड-जालमें भगवान् मुक्त होकर भी मानो आबद्ध थे।

यह देखकर पार्वतीजी कुढ़-कुढ़कर रह गईं। किन्तु भगवान्का तब भी मोह-भंग न हुआ।

इतनेमें ही दूरसे आती हुई एक इकतारेकी तान सुन पड़ी। और उसके पीछे स्वयं ऋषि नारद वहाँ उपस्थित हुए।

नारद ऋषिने भगवान्को प्रणाम किया। भगवान्ने आशीर्वादपूर्वक ऋषिका कुशल-क्षेम पूछा। पूछा—कहिए, नारदजी, आनन्द तो है? अन्य पृथ्वी आदि ग्रहोंका क्या हाल-चाल है?

नारदने निवेदन किया—भगवन्! इस प्रवासमें मैंने विशेषकर आपकी प्रिय पृथ्वीका परिपूर्ण परिभ्रमण किया। और वहाँ सब ठीक है। किन्तु उस ग्रहके धरातल-पर जिस मानव नामक जंतुने अभी हालमें जन्म लिया है, उसी जंतुकी जाति कुछ शीघ्रता चाहती है। उन्हें अपने गति-वेगपर तृप्ति नहीं है। वह नवीन मानव-सृष्टि कालकी चालमें वेग चाहती है।

भगवान्ने इसपर अपने वाम पार्श्वमें देखा। तदनंतर स्मित भावसे उन्होंने कहा—नारदजी, पृथ्वी तो बहुत कालसे अब इन (पार्वती) के संरक्षणमें है। प्रिये, सुनो, नारदजी क्या कहते हैं?

देवी पार्वतीने भ्रुकुटि-निक्षेपपूर्वक अपनी अन्यमनस्कता जतलाई और व्यक्त किया कि नारदजीको जो कहना हो, कह सकते हैं।

नारदजीने कहा—देवी महारानी, अपने शक्ति-यन्त्रालयके कारीगरोंको आज्ञा दीजिए कि वे पृथ्वी नामक कन्दुककी गतिमें कुछ तीव्रताका प्रक्षेपण दें। तब पृथ्वीपर प्राणियोंमें मूर्धन्य जो मनुष्य नामक जीव है, उसको संतोष होगा। महामाता, वह मनुष्य नामक प्राणी यद्यपि शरीरमें सूक्ष्म और सामर्थ्यमें अकिंचन है, फिर भी उसका अहंकार अपरम्पार है। भगवान्ने जो बुद्धि और तर्कका क्षुद्र अस्त्र कृपापूर्वक उसे जीवन-यापनके लिए दिया है, उससे वह मनुष्य नामक प्राणी अपनेको मार लेनेको तैयार हो

गया है। इसलिए महारानीजी, उसकी इस मूर्ख इच्छामें उसकी सहायता करें ; अन्यथा वह आत्म-घात करके ब्रह्म-विकासकी भगवान्की आयोजनामें विघ्नकारक होगी।

देवी पार्वतीने विस्मयसे कहा—ऐसा है ? उस मनुष्य नामक कीटकी उत्पत्तिकी बात तो हमको बताई गई थी। क्या अब वही कीट ऐसी जल्दी पर पाकर मरना चाहता है ? वह कीड़ा कैसा है, इसका बखान ऋषि नारद, आपसे फिर सुनूँगी। अभी तो आइए, देखें, पृथ्वीकी गतिमें क्या बाधा पड़ी है।

* * * *

शक्ति-यन्त्रालयमें यन्त्रोंका अजब ताना-बाना पुरा था। सब-कुछ चल रहा था और प्रत्येककी गति शेष सबकी गतिसे असम्बद्ध न थी। उस अनथक गतिमान् चक्र-व्यूहमेंसे न किसीको रोका जा सकता था, न ऋण किया जा सकता था, न किसीको समझा जा सकता था। सभी कुछ नीरव सतत चल रहा था। गति थी, फिर भी स्थिरता भी अखंड थी। और अति विस्मयजनक विविधताके मध्यमें ऐक्य प्रति-पालित था।

देवी पार्वतीके साथ ऋषि नारद यन्त्रालयमें उपस्थित होकर चकित रह गये। उन्होंने मन-ही-मन भगवान्का स्मरण किया और उनकी महिमाका स्तवन किया। इस भक्ति-प्रणमनमें ऋषि नारदकी आँखें तनिक मुँद आईं। अनन्तर जब उनकी आँख खुली, तब ऋषिने देखा कि महादेवी सती पार्वती धीरे-धीरे सावधनतापूर्वक विश्व-संचालनमें उपस्थित हुई किसी अनजान अनपेक्षित बाधाकी आहट टोहती हुई घूम-घूमकर यन्त्रालयका निरीक्षण कर रही हैं। अकस्मात् एक स्थलपर वह रुकीं। उन्होंने वहीं झुककर कान लगाकर मानो कुछ सुनना चाहा। जब माताका मुख ऊपर उठा तब नारदजीने देखा, उस मुखपर किंचित् चिन्ताकी रेख उदय हो आई है।

देवी पार्वतीने नारदजीको पास बुलाया। आतुरभावसे पूछा—ऋषिवर, यह पृथ्वी क्यों उड़नेके लिए रोती है ? उसको क्या विश्वास कठिन हो गया है कि मैं उसे प्रेम करती हूँ ? यतिमान्य, वह फिर क्या चाहती है ?

नारदजीने कहा—वह त्वरा चाहती है, माता ! जब बैठी है, तो उठना चाहती है। उठ खड़ी है, तो चलना चाहती है। चल रही है, तब भागना चाहती है। भागती हो, तो उड़ना चाहती है। माता पार्वती, वह 'कुछ और' चाहती है—कुछ और, कुछ आगे, कुछ अप्राप्त, कुछ निषिद्ध।

पार्वतीजीकी खुली आँखें मानो निर्निमेष हो गईं। आँखोंमेंसे धीरे-धीरे बनकर एक-एक मोती ढुल पड़ा। उन्होंने कहा—मुनिवर, मेरी पृथ्वी क्या पगली हुई है? अरे, वह क्यों पगली हो गई है। भगवान्‌की मंगलमय इच्छामें मेरी पृथ्वी विकार क्यों लाना चाहती है, मुने?

नारदजीने पूछा—माते, आपने अभी सुनकर क्या सूचना प्राप्त की है, क्या यह मैं जान सकता हूँ?

पार्वतीजीने कहा—ऋषिश्रेष्ठ, पृथ्वी अन्तश्चक्रमें चल तो रही है। न चले, इसमें उसका वश नहीं है। किन्तु चलते-चलते वह चूँ-चूँ कर रही है। यही मैंने अभी सुना। चूँ-चूँ करके वह क्यों रोती है, जब कि इसी नियोजित चालमें उसकी मुक्ति है?...किन्तु आप कहते हैं, मेरे ही उत्तम-अंग-रूप वे बेचारे मानव-जीव आकांक्षी हैं। तो मुने, अच्छी बात है—। निःकांक्ष्य यदि मनुज नहीं हो पाता, तो उस बेचारे की आकांक्षाको मैं विमुखता न दूँगी।

यह कहकर पार्वतीजीने अपने आपादलम्बित सुस्निग्ध केशोंकी एक मुक्तक लट-को वाम हाथसे थाम आगे किया और दक्षिण करकी उँगलियोंकी चुटकीसे उस लटको निचोड़ते हुए कालकूट अमृतकी एक बूँदको पृथ्वीकी धुरामें चुआ दिया। उस बूँद-को पृथ्वी देखते-देखते पी गई। माता पार्वतीने फिर झुककर कान लगाकर सुना। अनन्तर मुखको ऊपर उठाकर, कुछ प्रसन्न, कुछ खिन्न, करुण वाणीमें देवी पार्वतीने नारदजीसे कहा—हे मुने, पृथ्वीको मैंने आकांक्षित दान दिया है। आप अब वहाँ जाकर फल देखिए। उस जगतीतलकी मानवजन्तुकी जातिको उस फलके स्वाद से निश्शेष होनेपर फिर कुछ और कहना हुआ, तो फिर मैं सुनूँगी। किन्तु मुनिवर, मेरी पृथ्वी बड़ी पगली है।

ऋषि नारदका हृदय गद्गद हो आया। वे यन्त्रालय से बाहर आ गये और प्रभु शंकर की और माता पार्वतीकी महामहिमाके गानमें इकतारा बजाते हुए विहार कर गये।

*　　　*　　　*　　　*

रातको पृथ्वी-मंडलपर कुछ भूचाल-सा आया। मानो एक साथ पृथ्वीकी कायामें कहींसे विद्युत् भर गई। मानो कई सदियाँ पल-ही-पलमें बीत गईं। अत्यन्त वेगसे आघूर्णमान चाक जैसे स्थिर दीख पड़ता है, वैसे ही वह रात्रि जगत्‌के प्राणियोंको अति

स्तब्ध और गतिशून्य मालूम हुई। बस, उस अलौकिक गतिकी सरसराहटका सन्नाटा ही धरतीके जीवोंको हठात् बोध हुआ।

किन्तु जब सूर्योदय हुआ, तब मनुजोंने देखा कि धरतीकी जैसे कायापलट हो गई है। फसल जो धरतीसे फूट रही थी, पकी, सुनहरी, झूमती हुई, लहरा रही है। धरतीने मानो अपने कोशमेंसे कबका संचित अन्न इस बार उगल डाला है। लोगोंमें अत्यंत उत्साह उमड़ आया, अब उन्होंने पाया कि धनसे धरती भरपूर हुई बिछी है और उत्साहमें लालसा भी लहकी।

धनराजने उठकर देखा। उसका मन आनन्दसे भर गया। साथ ही लोभ भी उसमें भरने लगा।

जनराजने पृथ्वीपर यह बिखरी हुई दौलत देखी। उसने मानो स्वर्ग पा लिया। और उसे इच्छा हुई कि वह सब कुछ बटोरकर रख ले।

धनराजने सोचा कि परमात्माकी नेमत बरसी है। मुझे चाहिए कि मैं जल्दी जल्दी संग्रह कर लूँ। जनराजको कहीं पता न लगे।

जनराजने सोचा कि जबतक धनराजको चेत हो, क्यों न वह उससे पहले ही अपना घर भर ले। क्योंकि आज तो यह विपुलता है। कल जाने क्या होनेवाला हो।

धनराज और सब-कुछ भूलकर लपकता हुआ पकी हुई सुनहरी फसल काटने चला। घरसे निकला कि उसने देखा जनराज भी दराँत सँभाले बढ़ा चला आ रहा है। दोनोंने आपसमें बातें नहीं कीं। बस दोनोंने रुद्ध, अव्यक्त भीतरी रोषसे एक दूसरेको देखा।

वहाँ से अपना-मेराका कीड़ा दोनोंके भीतर पैठ गया।

इसके बाद धनराजने अपने झोंपड़ेके उत्तरके जनराजवाले कोनेमें और जनराजने उसी झोंपड़ेके दक्षिणके धनराजवाले कोनेमें एक ही रातको किस प्रकार आग लगाकर अपने संयुक्त प्रेमको स्वाहा कर दिया,—यह पुरानी कहानी है।

* * * *

राह-राहमें और नगर-नगरमें इस कहानीकी मुहुर्मुहुः पुनरावृत्तियाँ देखते हुए मुनि नारद अपने इकतारेकी झंकारके साथ महाप्रभु शंकर और महामाता गौरीकी महामहिम मायाका स्तव-गान करते हुए पृथ्वीके चारों ओर परिभ्रमण करते रहे।

तबसे वह विश्वकी संहार-लीलामें प्रभुका यशोगान करते हुए विचरण ही करते आ रहे हैं।

इसी भाँति ऋषि नारद अपनी वेदनाको आनन्दमय और अर्थमय और इकतारेकी गूँजके साथ उसे अर्घ्यमय बनाते और माता के चरणोंमें होम देते हैं।

बाहुबली

६

बहुत पहलेकी बात कहते हैं। तब दो युगोंका संधि-काल था। भोग-युगके अस्तमेंसे कर्म-युग फूट रहा था। भोग-कालमें जीवन मात्र भोग था। पाप-पुण्यकी रेखाका उदय न हुआ था। कुछ निषिद्ध न था, न विधेय। अतः पाप असंभव था, पुण्य अनावश्यक। जीवन बस रहना था। मनुष्य इतर प्रकृतिके प्रति अपने आपमें स्वत्वका अनुभव नहीं करने लगा था और प्रकृति भी उसके प्रति पूर्ण वदान्य थी। वृक्ष कल्पवृक्ष थे। पुरुष तन ढाँकनेको वल्कल उनसे पा लेता, पेट भरनेको फल। उसकी हर बात प्रकृति ओढ़ लेती। विवाह न था और परस्पर सम्बन्धोंमें नातोंका आरोप न हुआ था। स्त्री माता, बहन, पत्नी, पुत्री न थी ; वह मात्र मादा थी। और पुरुष नर। अनक थलचर प्राणियोंमें मनुष्य भी एक था और उन्हींकी भाँति जीता था।

इस युगके तिरोभावमेंसे नवीन युगका आविर्भाव हो रहा था। प्रकृति अपने दाक्षिण्य में मानो कृपण होती लगती थी। उस समय विवाह ढूँढ़ा गया। परिवार बनने लगे और परिवारों से समाज। नियम-कानून भी उठे। 'चाहिए' का प्रादुर्भाव हुआ और मनुष्यको ज्ञात हुआ कि जीना रहना नहीं है, जीना करना है। भोगसे अधिक जीवन कर्म है और प्रकृतिको ज्यों-का-त्यों लेकर बैठनेसे नहीं चलेगा। कुछ उसपर संशोधन परिवर्धन, कुछ उसपर अपनी इच्छा का आरोप भी आवश्यक है। बीज उगाना होगा, कपड़े बनाने होंगे, जीवन-संचालनके लिये नियम स्थिर करने होंगे और जीवन-संवृद्धि के निमित्त उपादानोंका भी निर्माण और संग्रह कर लेना होगा। अकेला व्यक्ति अपूर्ण है, अक्षम है, असत्य है। सहयोग स्थापित करके परिवार, नगर, समाज बनाकर पूर्णता, क्षमता और सत्यताको पाना होगा।

ठीक जबको बात कहते हैं, तब व्यक्ति व्यष्टि-सत्तासे समष्टि-सिद्धिकी ओर बढ़ चला था। राजा-जैसी वस्तुकी आवश्यकता हो चली थी। पर राजा जो राज्यक

संस्थापर न खड़ा हो, प्रजाकी मान्यतापर खड़ा हो। यह तो पीछेसे हुआ कि राजत्व संस्था बनी और शिक्षा और न्याय, विभागरूपमें, शासनसे पृथक हुए। नगर बन चले थे और जीवन-यापन नितान्त स्वाभाविक कर्म न रह गया था। उसके लिए उद्यमकी आवश्यकता थी।

*　　　*　　　*

इस भाँति प्रथम राज्य बना और प्रथम राजा हुए श्रीआदिनाथ। उनके दो पुत्र थे, दो पुत्रियाँ। पुत्र भरत और बाहुबली ; पुत्रियाँ ब्राह्मी और सुन्दरी।

अवस्थाके चतुर्थ खण्डमें ज्येष्ठ पुत्रको बुलाकर श्रीआदिनाथने कहा—पुत्र, अब तुम यह पद लो। मुझे अब दीक्षा लेनी चाहिये।

भरतने कहा—महाराज—

आदिनाथने कहा—तुमको पहला चक्रवर्ती होना है। इस राज्यसे बाहर भी बहुत-से प्रान्त हैं। जिनको व्यवस्थित शासन तुम्हें देना है। मैं तो लोगोंके मान लेनेसे उनका मुखिया हो गया था। उनको मुझे राजा कहनेमें सुख मिला। मैंने कहा, अच्छा-लेकिन तुमको साम्राज्य बनाना हैं। अपने लिए नहीं, लोगोंमें एकत्रता लानेके लिए। तुमको विजय-प्रसारका कर्तव्य भी करना होगा।

भरतने कहा—महाराज, आप दीक्षा क्यों लें? मैं विजयध्वज फहरा न आऊँ और अपनेको समर्थ न समझ लूँ, तब तक आप अपना आशीर्वाद मुझपरसे न उठावें।

आदिनाथने कहा—पुत्र, अब समय आता जाता है कि राजा शासक अधिक हो, प्रजाका हमजोली उतना न हो! राजैश्वर्यसे युक्त राजाको देखकर प्रजा समझती है कि उसने कुछ पाया है। तब तक उसका चित्त तुष्ट नहीं होता। मैं तो प्रजाके निम्नातिनिम्न जनसे अपना हमजोलीपन नहीं तज सकता। किन्तु तुम्हारे लिए यह अनिवार्य नहीं है। तुम राजपुत्र हो। मैं तो साधारण पिताका पुत्र हूँ और जिस पदसे शासनकी आशा है, उसके सर्वथा अयोग्य बन जाना चाहता हूँ। मुझे लोगोंके दुःखमें जाना चाहिए और मुझे उन मार्गमेंसे चलकर अपना कैवल्य पा लेना चाहिए।

भरतने निरुत्तर होकर सिर झुका लिया।

अगले दिन आदिनाथने दीक्षा ले ली। समस्त वस्त्राभरण और नगर त्यागकर वे निर्ग्रन्थ विहार कर गये। और भरत, चुप मन, जय-यात्रापर चल दिये।

पृथ्वीके छहों खण्डोंपर विजय स्थापित कर और बहुभांतिके मणि-मुक्ता, हय-गज और कन्या-सुन्दरियोंकी भेंटसे युक्त भरत धूमधामके साथ नगरको लौटकर आये।

किन्तु जब भरत नगरमें प्रवेश करने लगे तब विचित्र घटना हुई। चक्रवर्तीका शासन-चक्र नगरके भीतर प्रविष्ट नहीं होता था। प्रत्येक द्वारसे नगरमें प्रवेश करनेके यत्न किये गये, किन्तु शासन-चक्रने न साथ दिया। इसपर लोगोंको बहुत अचरज हुआ। तब राजगुरुकी शरणमें जाकर इसके कारणके विषयमें उन्होंने जिज्ञासा की। गुरुने बताया कि इस नगरमें एक व्यक्ति है जो अविजित है। उसपर जब तक विजय न पा ली जाय तब तक चक्रवर्तित्व अखण्ड नहीं होता। और उस समय तक यह शासन चक्र नगरमें प्रवेश न करेगा। राजगुरुने यह भी बताया कि अभी तक जिनपर किसीने विजय नहीं पाई है, ऐसे व्यक्ति राजकुमार बाहुबली हैं।

भरतने पूछा—गुरुदेव, तब क्या बाहुबलीसे मुझे युद्ध करना होगा?

राजगुरुने कहा—राजन्, तब तक चक्रवर्तित्व असिद्ध है।

भरतने कहा—किन्तु मैं चक्रवर्ती नहीं होना चाहता।

राजगुरुने कहा—राजर्षि, यह आपकी व्यक्तिगत इच्छा-अनिच्छाका प्रश्न नहीं है। यह राजकारणका प्रश्न है।

भरतने कहा—गुरुदेव, क्या भाईसे भाईको लड़ना होगा?

गुरुदेवने कहा—राजन्, राजकारण गहन है। राजकारण-धर्मीका कौन भाई है, कौन भाई नहीं है?

भरत नतमस्तक हुए।

* * * *

पाँच युद्धों-द्वारा शक्ति-परीक्षणका निश्चय हुआ। दृष्टियुद्ध, जलयुद्ध आदि, और अन्तमें मल्लयुद्ध।

आरम्भके चारों युद्धोंमें बिना प्रयास बाहुबली ही जयी हुए। बाहुबली इस विजयसे विशेष उल्लसित नहीं दिखाई देते थे, न भरत विशेष उदास। मल्लयुद्ध अन्तिम युद्ध था और उसके समय प्रजाकी उत्सुकता इस भाई-भाईके द्वेषहीन युद्धमें बहुत बढ़ गई थी।

मल्लयुद्धमें कुछ देरके बाद बाहुबलीने भरतको दोनों हाथोंपर ऊपर उठा लिया। इस समय दर्शकोंके प्राण कण्ठमें आ बसे थे। वे प्रतिपल आशंका करने लगे कि चक्रवर्ती भरत अब धरतीपर चित आ पड़ते हैं। किन्तु बाहुबलीने धीमे-धीमे अपने हाथोंको

नीचे किया और भरत पृथिवीपर सावधान खड़े दिखाई दिये। तदनन्तर नतशिर होकर बाहुबलीने दोनों हाथोंसे अपने बड़े भाईके चरण छुए।

भरतने भी बाहुबलीको अपनी छातीसे लगा लिया, कहा—बाहुबली, विजयी होओ। मुझे तुमपर गर्व है और मैं तुम्हारी विजयपर हर्षित हूँ। तुम सामर्थ्यशाली बनो।

बाहुबलीने कहा--यह आप क्या कहते हैं? आप ज्येष्ठ हैं, योग्य हैं और मैं एक क्षणके लिए भी राज्य नहीं चाहता।

भरतने कहा--भाई बाहुबली, वह तुम्हारा है। तुम उसके विजेता हो, उसके पात्र हो। और मैं अपना हृदय दिखा सकूँ तो तुम जानो, मैं कितना प्रसन्न हूँ। तुम राजा बनो, मुझे अमात्य बनाओ, सेनापति बनाओ, अथवा जो चाहो सेवा लो।

बाहुबलीने हाथ जोड़कर कहा--भाई, मुझे राज्यकी इच्छा नहीं है। इस विषयमें आप राज्य-पालनका कर्तव्य मुझपर न डालें। मैं दीक्षा लेना चाहता हूँ। मुझे राज्य आदि नहीं चाहिए।

भरतने बहुत कहा। परन्तु बाहुबली दीक्षा लेकर वनकी ओर चले गये। भरत चुपचाप राज्य-रक्षा और राजत्व-पालनमें लग गये।

* * * *

बाहुबलीने घोर तपश्चरण किया--अति दुर्द्धर्ष, अति कठोर, अति निर्मम। वर्षों वे एक पैरसे खड़े रहे। महीनों निराहार यापन किये। सुदीर्घ कालतक अखण्ड मौन साधे रक्खा। बरसों बाहरकी ओर आँख खोलकर देखा तक नहीं।

उनकी इस तपस्याकी कीर्ति दिग्दिगंतमें फैल गई। देश-देशसे लोग उनके दर्शन-को आने लगे। भक्तोंकी संख्या न थी। उनकी महिमा और पूजाका परिमाण न था।

किन्तु बाहुबली भक्तों और उनकी पूजासे विमुख होकर घोरसे घोरतर निर्जन दुष्प्राप्य एकान्तमें चले जाते थे। एक स्थानपर एक बार अडिग, एकस्थ, एकाकी इतने कालतक खड़े रहे कि उनके सहारे वल्मीक जम गये, बेलें उठकर शरीरको लपटने लगीं। उन वल्मीकोंमें कीड़े-मकोड़ोंने घर बना लिये।

इस कामदेवोपम सर्वाङ्ग-सुन्दर बलिष्ठ पुरुषने निदारुण कायक्लेशमें वर्ष-के-वर्ष बिता डाले। लोग देखकर हा-हा खाते थे और निस्तब्ध रह जाते थे। उसकी स्पृहणीय काया मिट्टी बनी जा रही थी। स्त्रियाँ उस निमीलित-नेत्र, मग्न-मौन, शिलाकी भाँति खड़े हुए पुरुष-पुंगवके चरणोंको धो-धोकर वह पानी आँखोंमें लगाती थीं। उनके

चरणोंके पासकी मिट्टी ओषधि समझी जाती थी। पर वह सब ओरसे बिलग, अन-पेक्ष, बन्द-आँख, बन्द-मुख, मलिन-देह, कृश-गात, तपस्यामें लीन था।

यह था, पर कैवल्य उसे नहीं प्राप्त हुआ, नहीं हुआ। ज्ञानी लोग इसपर किं-विमूढ़ थे।

* * * *

जीवन्मुक्त भगवान् आदिनाथसे लोगोंने पूछा—भगवन्, दीर्घकालसे कुमार बाहु-बली अतिशय कठोर तपश्चर्या कर रहे हैं। आपको ज्ञात तो है?

भगवान् बोले—हाँ, ज्ञात है।

"उससे हमारा हृदय काँपता है। आप उन्हें इससे विरक्त करेंगे?

भगवान्ने कहा—नहीं। एकनिष्ठाके साथ जो किया जाता है, उससे किसीका अपकार नहीं होता।

लोगोंने पूछा—किन्तु भगवन्, कुमार बाहुबलीको अब तक कैवल्य-सिद्धि क्यों नहीं हो सकी?

भगवान्ने कहा—यह तुम पीछे जानोगे।

भरत राज्य-शासन चला रहे थे। प्रथम चक्रवर्ती भरतके ऐश्वर्य्यका पार न था। मणि-माणिक-मुक्ताकी दीप्तिसे उनका परिच्छद जगमग रहता था। उनके नामका आतङ्क दिग्दिगन्तमें छाया था। सब प्रकारके सुख-विलास और आमोद-प्रमोदके साधन उनके संकेतपर प्रस्तुत थे। और वे अपने अखण्ड निष्कण्टक चक्रवर्तित्वका उपभोग कर रहे थे।

इसको भी वर्ष-के-वर्ष हो गये।

एक दिन भगवान् आदिनाथके पास पहुँचकर भरतने कहा—भगवन्, भाई बाहु-बलीको यह अधिकार मिला कि वह मुझको छोड़कर और राज्यको छोड़कर स्वाधीन रहें और सत्यको पाएँ। जो मेरे अधिकारमें नहीं आता था, जो बाहुबलीका हो गया था, उस राज्यको लेनेको मैं रह गया। मेरे लिए अस्वीकार करनेको तनिक भी अवकाश नहीं छोड़ा गया! मुझे शिकायत नहीं है। लेकिन मैं आपसे पूछता हूँ, क्या मैं अब दीक्षा नहीं ले सकता?

भगवान्ने कहा—ले सकते हो। अगर सत्यकी खोज और सत्यकी उपलब्धि राजत्वके द्वारा तुम्हारे निकट अगम्य बन गई है, तो तुम उसे अवश्य तज सकते हो। और मैं कह सकता हूँ—अगम्य बन जाना चाहिए। तुम पचास वर्षसे तो ऊपरके हुए न?

भरत संतुष्टचित्त महलोंको लौट आये। और दो दिन बाद घोषणा हो गई कि चक्रवर्ती अब दीक्षा लेंगे।

नगरवासियोंमें विकलता छा गई। साम्राज्यके प्रान्त-प्रान्तसे विरोधमें अनुनय-प्रार्थनाएँ आईं। किन्तु भरतने एक प्रतिनिधि-सभाको अपना उत्तराधिकार देकर दीक्षा ले ली।

और, राज्याभरण उतारते-उतारते मुहूर्त्तके अन्तरमें उन्हें निर्मल कैवल्यकी उपलब्धि हो गई।

* * * *

लोगोंने क्लिष्ट भावसे भगवान् आदिनाथकी शरणमें जाकर पूछा—भगवन्, यह क्या बात है? कुमार बाहुबलीने कितना घोर कार्योत्सर्ग झेला, कैसा दुर्द्धर्ष तपश्चरण किया, आरम्भसे ही उन्होंने सब सुखोंका विसर्जन किया, किन्तु उनको कैवल्य प्राप्त नहीं हुआ। और चक्रवर्ती भरतने जीवनके अधिक भागमें ऐश्वर्य ही भोगा, प्राचुर्य्य ही देखा, विलास ही पाया। उनको राज-चिह्न उतारते-उतारते परम ज्ञानकी प्राप्ति हो गई! भगवन्, बताइए, यह कैसे हुआ? हमारा चित्त भ्रान्त है।

भगवान्ने सदय भावसे कहा—बाहुबली अविजित है। यह वह बेचारा नहीं भूल सका है।

लोगोंको अनाश्वस्त पाकर खिन्न स्मितके साथ भगवान्ने फिर कहा—बाहुबलीके मनमेंसे एक फाँस नहीं निकली है। वही एक शल्य उसकी मुक्तिमें काँटा है। उसके चित्तमें यह खटक बनी हुई है कि जिस भूमिपर वह खड़ा है, वह भरतके राज्यान्तर्गत है।

* * *

बाहुबलीके कानोंमें जब यह बात पहुँची, मनका काँटा एकदम निकल गया। जैसे एक साथ ही वे स्वच्छ हो गये। आँखें खुल गईं, मौन-मुख मुस्करा उठा। उस मुस्कराहटमें मनकी अवशिष्ट ग्रन्थि खुलकर बिखर गई और मन मुकुलित हो गया।

उनके चहुँओर वनमें उस समय असंख्य भक्त नर-नारियोंका मेला-सा लगा था। उन सबको अब उन्होंने अस्वीकार नहीं किया, उनका आवाहन किया! अपने आराध्यकी यह प्रसन्न-वदन-मुद्रा देखकर लोगोंके हर्षका पारावार न था। बाहुबलीने अपनेको उनके निकट हर तरहसे सुगम बना लिया। कहा—भाइयो, तुमने इस बाहुबलीको आराध्य माना। उसकी आराध्यता समाप्त होती है। तपस्या बन्द होती है। तुमने

शायद मेरे काय-क्लेशकी पूजा की है। अब वह तुम मुझमें नहीं पाओगे। इसलिए मुझे आशा है कि तुम मुझे पूजा देना छोड़ दोगे। और यदि मेरी अप्राप्यताका तुम आदर करते थे, तो वह भी नहीं पाओगे। मैं सबके प्रति सदा सुप्राप्त रहनेकी स्थिति में ही अब रहूँगा।

बाहुबलीने निर्मल कैवल्य पाया था। ग्रन्थियाँ सब खुल गई थीं। अब उन्हें किस की ओरसे बन्द रहनेकी आवश्यकता थी? वे चहुँओर खुले, सबके प्रति सुगम रहने लगे।

यह देख धीरे-धीरे भक्तोंकी भीड़ उजड़ने लगी और परम योगी बाहुबलीकी शरण में अब शान्तिके लिए विरल ज्ञानी और जिज्ञासु लोग ही आते थे।

वह बिचारा साँप ७

एक वनकी घोर आच्छन्नतामें एक साँप रहता था। विकराल और सुन्दर, वह अन्य वनचर जन्तुओंमें एक साथ ही भय और मोह उपजाता था। उसकी काली देह पर मानो नक्काशीका काम हो रहा था और फणपर तो जैसे मणियाँ ही टँकी थीं। यह सर्प बड़ा विषधर भुजंग था; किन्तु वह अपने भीतरके मनसे बड़ा भला भी था। क्रोध-के समय उसकी गर्म सिसकारीसे आसपासकी घास भी जल जाती थी। किन्तु अन्यथा वह अलस-भावसे अपने स्थानपर ही पड़ा रहता था। और तब कीड़े-मकोड़े तकको उसकी देहके साथ क्रीड़ा करते हुए संकोच न होता था।

उसी अरण्यमें अकस्मात् एक रोज़ खेलता हुआ एक देव-बालक आन पहुँचा। वह किलकारी भरता हुआ उछाहसे भागा चला जा रहा था। उछाह-ही-उछाह था, शंकाकी छाया उसके मनके आसपास भी कहीं नहीं थी। बालक अनुपम सुन्दर था। उसके हाथमें वंशी थी, जिसको वह गिल्लीके डंडेकी तरह सहज भावसे पकड़े घुमाता हुआ जा रहा था। मालूम नहीं, वह बालक इस विकट अरण्यके कलेजेमें कहाँसे उतर-कर कहाँ पहुँचनेके लिये इस भाँति निश्शंक लपका जा रहा था।

बालकके मनमें तो क्रीड़ाके उल्लासके अतिरिक्त कुछ न था। किन्तु भागतेमें उसका पैर भुजंगकी पूँछपर पड़ गया। इसपर भुजंगने फण उठाया और बालक दो डग भी न भर पाया था कि उसे डस लिया।

उस सर्पके विषका प्रभाव, कि देखते-देखते बालक वहीं गिर गया। पलक मारते में वह ठंढा भी हो गया। वेदनाकी कोई पुकार उसके मुँहसे नहीं निकली। मानो हँसी-हँसीमें ही वह लोट पड़ा हो। देव-बालकका मुख अब भी तनिक विकृत न हुआ था।

साँपने जब गिरे हुए बालकको देखा तब वह अवसन्न रह गया। उस बालकका

सौन्दर्य साँपके मनको बर्छी-सा चुभने लगा। उस बालकके मुखपर अपनेको दंश करनेवालेके लिए भी कोई मैल अथवा किसी प्रकारकी अभियोगकी छाया नहीं दीख पड़ती थी। साँप मन-ही-मन अति दुखी हुआ। वह बालककी समूची देहपर मानो पहरा देता हुआ गुंजलक भरकर उसे घेरकर वहाँ बैठ गया। बैठा ही रहा। दिनभर हो गया, रातभर हो गई। दो दिन हुए, तीन हुए, चार हुए, लेकिन वह साँप बिना कुछ अपनी सुध लिये बालकके चारों ओर अपनी देहका कुण्डल डाले ही पड़ा रहा।

अन्तमें बालककी देह विकृत होने लगी। इस भूलके लिए शनैः-शनैः जब जगह ही न रही कि इस देहमें बालककी आत्मा कहीं हो सकती है, तब साँप वहाँसे चल दिया। उसने तब बड़े कातर भावसे प्रार्थना की, कि ओ मेरे परमात्मा! मैं क्या करूँ? क्रोध मुझे आ जाता है, लेकिन मैं किसीका अनिष्ट करना नहीं चाहता। तैंने मुझमें यह क्या विष रख दिया है कि मैं ज़रा मुँहसे छूता हूँ कि दूसरेकी जान चली जाती है! उस देवोपम बालकका अनिष्ट क्या मैं तनिक भी सह सकता हूँ? मेरे परमात्मा! अपना यह विष तू मुझमेंसे ले ले। हाय! यह मेरा वश क्यों नहीं है कि मैं यदि क्रोधसे नहीं बच सकता, तो दूसरेको जान लेनेसे तो बचूँ। किन्तु तैंने तो मेरे मुँहमें ही महाकाल बैठा दिया है। तू यह ज़हर मुझमेंसे खींच ले।

अगले दिन परमात्माका भेजा हुआ एक सँपेरा वहाँ आ निकला। उसके हाथमें झोली थी। वह जंगलमें आया और बैठकर बीन बजाने लगा। साँप बीनकी बैनमें बँधा हुआ सँपेरेके सामने पहुँचा और फण खोलकर मोहमुग्ध, वहाँ खड़ा रह गया। बीनमें फूँक फेंकता हुआ सँपेरा उसे बजाता ही गया और साँप अधिकाधिक प्रस्त भावसे फण हिला-हिलाकर उसमें विभोर होता गया। इसी भाँति उसके फणके आगे बीन बजती रही और सर्प हतचेत, मानो कृतज्ञ, अपनेको सँपेरेके हाथमें देता गया। सँपेरेने आश्वस्त प्रेमके भावसे उसे शनैः-शनैः पूरी तरह काबूमें कर लिया।

जब उसके ज़हरके दाँत उसके मुँहमेंसे खींचकर सँपेरेने निकाले, तब वह सर्प पीड़ासे मूर्च्छित हो रहा था। उस पीड़ामें भी, जब तक वह एकदम चेतनाशून्य ही नहीं हो गया तब तक, साँप सँपेरेका आभारी ही बना रहा। इसके लिए मानो वह उसका ऋणी ही बना था कि उसे पीड़ा देकर यह व्यक्ति उसमेंसे उसके अनिच्छित अंशको बहिष्कृत कर दे रहा है। मूर्च्छित सर्पको अन्तमें झोलीमें डालकर सँपेरा नगर की ओर चल पड़ा।

मूर्च्छासे जगनेपर साँपने देखा कि उसके चारों ओर अन्धकार है। उसने टटोल-कर यह भी देखा कि चारो ओरसे वह बन्द है, मार्ग कहीं भी नहीं है। शरीरके ज़ोरसे उसने चेष्टा भी की कि किसी ओर मार्ग खुलकर उसे प्राप्त हो, किन्तु चारों ओर फणको टकराकर और लौट-लौट आकर उसने प्रतीति पा ली कि नहीं, मार्ग रुद्ध ही है। ऊपर भी नीला आसमान नहीं है, वही काला अँधेरा है, जो पार्श्वमें है। और उसके चारों ओर जिस वस्तुका अवरोध है वह एकदम अपरिचित है, दृढ़ है। उस वस्तुके साथ उसका हेल-मेलका सम्बन्ध नहीं बनेगा, जाने किस निर्जीव पदार्थ-की वह बनी है!

झोली लेकर सँपेरा नगरमें अपनी रोज़ीके लिए निकला। वह बीन बजाकर साँपका खेल दिखाएगा, और इस भाँति नाज, पैसा और रोटी पा लेगा। बच्चे साँप-का खेल देखेंगे और अपनी अम्माँ-चाचीसे रोटी लाकर सँपेरेकी झोलीमें डाल देंगे। साँपको देखकर उन्हें बड़ा कुतूहल होगा। डर भी होगा, पर सँपेरेके रहते अपनेको डर वह ज्यादा नहीं होने देंगे। कंकड़ी फेंककर उस साँपसे वह छेड़-छाड़ भी कर लेंगे। हाँजी, उसे वे छू भी क्यों नहीं लेंगे। साँपका फण उन बालकोंको बड़ा विचित्र मालूम होगा। चित्रमें बने साँपके फणसे जो उनमें आश्चर्य होता है, उससे कहीं अधिक समाधानकारक आश्चर्य उन्हें उस सचमुचके साँपके फणको देखकर होगा। पर उन बालकोंको लिए उस मदारी सँपेरेके सामनेके साँपके फणमें भी कुछ वैसा ही निश्शंक, निरापद, उत्कंठित विस्मयका भाव होगा जैसा कागज़पर बने हुए साँपके चित्रमें होता है।

जब ढँकना खुला और सर्पको माथेके ऊपर प्रकाशका आभास हुआ, तब वह उत्कण्ठाके साथ ऊपरकी ओर फण उठाकर लपका। किन्तु पाया, सामने तो उसका उपकारी सँपेरा ही उसके आगे करके बीन बजा रहा है। इसपर वह साँप फण हिला-हिलाकर अपनी कृतज्ञता और अपना विमोह जतलाने लगा। वह झूम-झूमकर बीनके बैन पीता हुआ अपने उपकारीके समक्ष फण खोले खड़ा रहा।

सँपेरेने ऐसी अवस्थामें साँपको हाथसे टोकरीमेंसे निकालकर बाहर धरतीपर छोड़ दिया।

साँपने देखा—यह तो उसको घेरे लोगके लोग जमा हैं। उनमें बालक भी हैं। यह बात साँपकी समझमें नहीं आई। यह सब उससे क्या चाहते हैं? वह तो स्वयं

बड़ा हिंस्र जीव है। तब यह सब लोग उसको इतने पाससे घेरे हुए निश्शंक भावसे उससे क्या प्रत्याशा रखके खड़े हैं?

अनायास बाहर धरतीपर आकर वह संकोचपूर्वक गिर गया। लिपटा हुआ-सा; देहमें ही अपना मुँह छिपाए वह लोगोंके घेरेके बीचमें पड़ा रहा।

लोगोंको उस सर्पकी कान्तिमय चित्रित देह बहुत मनोरम जान पड़ी। ऐसा भारी साँप उन्होंने कब देखा होगा? वही भयंकर वनका राजा उनके सामने यों मुँह दुबकाए पड़ा है, मानो यह उन मनुजोंके लिए गौरवकी बात थी।

एकने कहा – मदारी! इसे उठाओ।

मदारीने कहा – बाबू! यह नाग अभी नया है। सकुचाता है।

एक बच्चेने कहा—इसे चलाकर दिखाओ, मदारी!

मदारीने कहा—अच्छा बाबू!

यह कहकर मदारीने उस साँपकी पूँछमें अपने हाथसे एक ज़ोरकी चोट दी।

साँप बैठा-बैठा अपनी अधमुँदी आँखोंसे मानो अपने इर्द-गिर्द इकट्ठे हुए इन सीधे होकर चलनेवाले लोगोंके प्रति प्रेम और करुणाकी बातें सोच रहा था। इस प्रकार के मात्र दो पैरोंके धरतीपर टिकाए वृक्षकी भाँति खड़े-ही-खड़े चलनेवाले इन आदमी नामक जन्तुओंको उसने अपने स्वदेशमें अधिक नहीं देखा था। आरम्भमें देखकर तो उसे इन दो टाँगोंपर चलनेवाले आदमियोंमें विकट भयका ही बोध हुआ था। पर जब उसने जाना कि यह निर्बल प्राणी तो किसी भी अवस्थामें उसका एक दंश भी सहन नहीं कर सकते हैं, तब भयके स्थानमें करुणा होने लगी। उन्हीं विचित्र और अल्पप्राण मनुज जन्तुओंका जब झुण्ड-का-झुण्ड उसने अपने चारों ओर पाया तब पहले तो उसे भय हुआ। फिर कुछ लज्जा हुई। और अन्तमें वह विचारसेमें पड़ गया। उसे यह मनुष्यका अविचार मालूम हुआ कि मुझमें उन्हें इतना विस्मय है। फिर भी उसे यह अच्छा लगा कि मुझमें इन प्राणियोंको इतना प्रेम है। किन्तु होते-होते उसके लिए इतनी दृष्टियोंका केन्द्र बनकर संकुचित पड़े रहना भारी होता आया। वह इन पराये प्राणियोंके प्रान्तमेंसे भागकर अपने विटपाछन्न स्वदेशमें ही चला जाना चाहता था। किन्तु मार्ग कहाँ था?

उसी समय पूँछमें चोट खाकर उसने फण उठाया। वह फण चौड़ाता ही चला गया। उसने तुरन्त चोट देनेवालेको ओर देखा। किन्तु, सँपेरा मुँहमें बीन देकर

बजा रहा था। कुछ क्रोधमें, कुछ मोहमें, साँप फण फैलाए खड़ा रहा। उस प्रशस्त फणके आतंककारी सौन्दर्यपर लोगोंकी आंखें जमी रह गईं। मानो इस समय तो उन्हें उस सौन्दर्यमें विलास ही है, आतंक नहीं रह गया है। साँपने अपने उठे हुए फणको चारों ओर घुमाकर सब कुछ देखा। देखा, कि उसके अपने मनमें क्रोध अनुपस्थित नहीं है; किन्तु तो भी इन समस्त मनुजोंके चेहरेपर तो कुतूहल ही दिख रहा है। बालक तक भी घबराये नहीं दिखे। साँपने क्रुद्ध आँखोंसे देखा। उसने क्षुब्ध सिसकारी छोड़ी। जीभें लपलपातीं उसकी बाहर निकलीं, मानो काली तड़ित रेखाएँ हों। किन्तु इस सबसे, कोई बालक चाहे डरपा भी हो पर, लोगोंके तो कुतूहलमें ही वृद्धि हुई। वे अधिकाधिक तृप्त और आनन्दित भावसे साँपके ये करतब देखते रहे।

साँपके फणमें जाने कितनी फैल जानेकी शक्ति न थी। वह, फैलता ही गया। पार्श्वनाथकी मूर्तिके शीशपर छाये नाग-फण-सा ही उस नागका फण छा गया। वह फण उठता भी गया। साँपके शेष शरीरमें भी मानो चैतन्य लहरा आया। विद्युत्के जीवित तारकी भाँति उसका शरीर किसी ज्वालासे भरा दीखने लगा। साँपने स्फुलिंग-सी आँखोंसे चारों ओर देखा।

किन्तु लोगोंका कुतूहल ही बढ़कर रह गया। आतंक तो उनके समीप फटका भी नहीं।

तब ज़ोरसे साँपने अपना फण धरतीपर देकर मारा। उससे आसपासकी मिट्टी उड़ गई और फणकी नोकके नीचे गड्ढा-सा पड़ गया।

इसपर लोगोंका घेरा अनायास ही एक डग पीछे हटा। पर साँपमें उनकी दिलचस्पी ही बढ़ी, दहशत फिर भी उनमें तनिक न समाई।

उस समय सँपेरेने अपने स्थानसे मानो साँपको पुचकारा। कहा 'बस बेटा, बस।' और हाथ बढ़ाकर साँपकी देहपर फेरना चाहा। साँप आवेशके साथ उसके हाथकी ओर झपटा।

सँपेरेने ओठोंको बढ़ाकर पुचकारनेकी ध्वनि निकाली। मानो कि वह उसे चूमना चाहता है।

सर्प अपने निष्फल आक्रोशको भीतर लेकर जल उठा। उसे अब लगा कि लोग उसकी भयंकरताको व्यर्थ करनेके बाद अब उसके तिरस्कारका आनन्द ले रहे हैं। जो

उसका तेज था, वह इन मनुजोंके लिए मात्र सौन्दर्य है। मेरा रोष उनका विनोद है। मेरा अपमान उनकी खुशी है।

सँपेरेने उसके शरीरपर धीमे-धीमे हाथ फेरकर कहा,'ओ बेटा, बस। बस, मेरे बेटे।'

साँपने ज़ोरसे अपना दाँत सँपेरेके हाथमें गड़ा दिया। सँपेरा अपने हाथमें निकलता हुआ खून देखकर हँसा। उसने उसे पोंछ लिया और शान्त भावसे पुचकारते हुए कहा—गुस्सा नहीं करते बेटे, शाबाश, शाबाश!

इसपर साँप चुपचाप कुण्डली मारकर धरतीपर बैठ गया। उसकी व्यर्थता उसे काटने लगी। अपने लाञ्छित दर्पको अपने ही भीतर चूसता हुआ वह परास्त, पराजित लोगोंके बीचमें पूँछमें मुँह दुबकाये पड़ गया।

एक आदमीने कहा—सँपेरे, तुमने इसके ज़हरके दाँत तोड़ लिये मालूम होते हैं।

सँपेरेने कहा—नहीं बाबू, आप इसका भरोसा मत रखना। हम लोगोंके पास तो बूटियाँ रहती हैं।

यह कहकर बूटी-सी कुछ चीज़ निकालकर उसने काटे हुए स्थानपर घिस ली।

दूसरे आदमीने कहा—यह तो बड़ा तेज़ साँप है?

सँपेरेने कहा—बाबू, इसके काटेका इलाज दुनियामें नहीं है। बड़ा विषधर नाग है, बाबू।

साँप पूँछमें मुँह दुबकाये मानो एक ओरसे अपनेको निगल ही जाता हुआ पड़ा था।

तीसरे आदमीने फ़रमाइश की—मदारी, यह तो चुप हो गया। इसको फिर उठाओ।

मदारीने अपनी बीनकी नोकसे निष्क्रिय पड़े हुए साँपकी पूँछमें कई टहोके दिये। साँप तैशमें काँप-काँप गया। पर वह चुप ही पड़ा रहा, उठा नहीं।

सँपेरेने फिर चोट देकर कहा—उठ बेटा!

साँपको ऐसा क्रोध आया कि वह अपनेहीको काट डाले।

सँपेरेने फिर उसके फणपर चोट देकर पुचकारकर कहा—उठो बेटा।

और बेटा, आखिर कबतक न उठता। जब असह्य हो गया तब वह उठा। उठकर वैसे ही फण फैलाया। वैसे ही चारों ओर फणको घुमाया। वैसे ही फुसकार भरी। वैसे ही जीभें निकालीं। वैसे ही शरीरको तनाया। क्रोधका पूरा अभिनय उसने किया। क्योंकि उसने जाना कि तमाशाई यही चाहते हैं और यही किये उसे छुट्टी है।

लोगोंको बड़ा आनन्द आया। वे सर्पके पक्षमें बहुत प्रभावित हुए। उन्होंने माना कि सर्प निस्संशय विकट विषधर है। उनको ऐसा आनन्द हुआ जैसे कोई महापुरुष उन्होंने देखा हो। ऐसा महापुरुष जिसकी महत्ताकी झुलस उन्होंने अपनेको नहीं लगने दी है, इसी लिए जिसकी महत्ता सानन्द स्वीकार है।

सर्पने सभी कुछ कर दिया और फिर वह कुण्डली भरकर पूँछमें मुँह डालकर वैसे ही बैठ रहा। तभी एक व्यक्तिने उसकी चाल देखनेकी इच्छा प्रकट की। इस महत्त्वपूर्ण, अनोखे, विषधर प्राणीकी चलते समय क्या आन-बान रहती है, यह तो देखें।

सँपेरेने कहा--'अच्छा बाबू।' और बीनकी नोंक उसके शरीरपर ठोककर सँपेरेने कहा—'ज़रा चाल दिखा मेरे राजा बेटे, बाबूको खुश कर दे। तुझे बड़ा इनाम मिलेगा।'

बड़े पुरस्कारकी वांछनीयता एकदम उस मतिमंद सर्पकी समझमें शायद नहीं आई। वह चोटें सहता हुआ भी मानो सत्याग्रहपूर्वक वहाँ जड़की भाँति ही पड़ा रहा। कुछ देर बाद हाँ, उसे बाबूको खुश करनेका लाभ अवश्य विदित हो आया दीखा। तब उसने अपनी देहकी कुण्डलीको खोला और सरकना शुरू किया।

सँपेरेने फणके पास बीनका टहोका देकर कहा—'सलाम कर बाबुओंको। सलाम कर।'

साँपने फण उठा दिया।

इसी भाँति कुछ दूर चला-चलाकर साँप वैसे ही मरोड़ी मारकर आ बैठने लगा। सँपेरेने उसे बहुत शाबासी देते हुए दोनों हाथोंमें उठा लिया और उसे लिये-लिये वृत्ताकार एकत्रित लोगोंके समक्ष घूमता हुआ वह कहने लगा—दाता सबका भला करे। कोई फटा-पुराना कपड़ा मिल जाय राजा। और पेटके लिए दो रोटी।

लौटकर साँपको जब उसने घरमें छोड़ा तब ढक्कनके नीचे अपने अँधेरे घरमें उस साँपने अपने खंडित दर्पकी घूँट पीकर कहा—हे जगदीश्वर! तैंने मुझे कालकूट विष दिया था। उसे मैंने कृतज्ञ भावसे स्वीकार न कर लेकर तुझे लाचार किया कि तू उसे मुझमेंसे वापिस खींच ले। हे ईश्वर! क्या मेरी इसी अकृतज्ञताका यह दंड है कि मेरा तेज भी मुझसे छीन लिया गया है। हे परमात्मा! क्या विष ही मेरा तेज था? क्या ज़हरको भी अस्वीकार करनेकी इच्छा हम नहीं कर सकेंगे, ओ परमात्मा?

और मालूम हुआ कि वाणीमें तो परमात्मा सदा मौन ही रहता है। कृत्यमें ही वह व्यक्त है। जगत्की घटना ही जगदीश्वरकी वाणी है।

और कृत्यमें इस भाँति व्यक्त हैं। और घटनागत वाणी यह है कि उस सर्पको लेकर सँपेरेको अपनी रोज़ी पानेमें सुविधा हो गई है और सँपेरा और उसकी स्त्री कृतज्ञ होकर भगवानको धन्यवाद देते हैं कि हे भगवन्! तू सबका पालनहार है।

अपना-पराया ८

तबकी बात कहते हैं, जब रेल नहीं थी और घोड़ा ही सबसे तेज सवारी थी।

एक मुसाफ़िर सिपाहियाना पोशाकमें सड़कके किनारेकी एक सरायपर घोड़ेसे उतरा। उसने घोड़ेको थपथपाया और अंदर दाखिल हुआ। वह बहुत दूरसे आ रहा था और खूब थका हुआ था। वह चौबीस घण्टे यहाँ रहेगा और चला जायगा। उसे अभी दूरकी मंजिल तय करनी है।

सरायमें पहुँचकर उसने घोड़ा सरायवालेके हाथमें थमाया और चाहा, घोड़ेके खाने वग़ैरहका ठीक बन्दोबस्त हो जाय और उसके लिए एक आरामदेह कमरेका फ़ौरन इन्तज़ाम किया जाय। पैसा फ़िक्र करनेकी चीज़ नहीं है, लेकिन उसे आराम चाहिए।

घोड़ेकी व्यवस्था कर दी गई। उसके आराम और कमरेकी व्यवस्था कर दी गई। उसने खाना खाया और पलंगपर लेट गया।

नींद उसे जल्दी आ गई और सपनेमें वह घरकी बातें देखने लगा।.. उसकी पत्नी जो पाँच सालसे विधवाकी भाँति रह रही है, उसके पहुँचनेपर काम-धाममें बहुत व्यस्त है, प्रेम-संभाषणके लिए तनिक भी अवकाश नहीं निकाल पाती। वह मानो उससे बची-बची काम कर रही है। वह नहीं बताना चाहता कि दो हज़ार रुपया उसकी कमरसे बँधा है—दो हज़ार! वह समझना चाहता है और अपनी आँखोंके आगे (कल्पना द्वारा) देख लेना चाहता है, किस प्रकार मेरे पीछे इसने दिन काटे? विपदा-में इस बेचारीका साथ देनेके समय वह और कहीं क्यों भटकता रहा? बे-पैसे, बे-आदमी, कैसे यह अपना काम चलाती रही होगी! - और साढ़े चार बरसका यह करनसिंह, ओह!' बिना किसीकी मददके दुनियामें कैसे आ पहुँचा होगा? वह अपनी पत्नीकी सूरत बार-बार देखना चाहता है, लेकिन वह मौका नहीं लगने देती! . यही करनसींग है? अरे, यह तो बहुत बड़ा हो गया! बिलकुल अपनी माँपर है। हाँ, करन

सींग ही तो है। क्योंजी, आपका नाम करनसींग ही है? हम कौन हैं, बताइएगा? अपने बापको जानते हैं? वह लड़ाईपर गया हुआ है। मैं उसीके पाससे आ रहा हूँ। वह आपको बहुत प्यार करता है। यह कहकर दोनों हाथ बढ़ाकर उसने बेटेको अपनी गोदमें लेना चाहा।

तभी उसकी आँख खुल गई और उसने देखा, घरकी मजिल अभी दूर पड़ी है और वह अभी सरायके अजनबी कमरेमें है। उसने माथा पोंछा और कमरेमें बँधी रुपयोंकी न्यौली सम्हाली। समय उसको भारी लगता था। उसने बातचीतके लिए सरायवालेको बुलाया और मालूम होनेपर भी दुबारा मालूम किया कि पूरे दो रोजकी मंज़िल अभी और है। इधरके हाल-चाल मालूम किये और अपनी फ़ौजकी बहुत-सी बातें बताईं। उसने उस ज़िंदगीका स्वाद बताया, जहाँ हर घड़ी मौतका अंदेशा है और जहाँसे बाल-बच्चे सैकड़ों कोसों दूर हैं, और छन बीतते अनन्त दूर हो सकते हैं। है तो वह स्वाद, लेकिन बड़ा कड़वा स्वाद है। बताया कि किस भाँति हम मारते हैं और किस भाँति हम मरते हैं। उसने कहा कि मेरी समझमें नहीं आता, कैसे अपने सगे लोगोंके खयालसे बचकर मरा जा सकता है। मरना कभी खुशीकी बात नहीं हो सकती। और यह अचरज है कि क्यों जिन्हें हम मारते हैं, उनके बारेमें यह नहीं सोचते कि मरना उनके लिए भी वैसा ही मुश्किल है। हम मारकर खुश क्यों होते हैं? लेकिन फ़ौजमें यही बात है कि जिस मारनेसे हम मामूली ज़िंदगीमें डरते हैं, उसी मारनेका नाम वहाँ बहादुरी हो जाता है। वहाँ आदमी जितने ज्यादाको मारता है, उतना ही अपनेको कामयाब समझता है, और लोग इसके लिए उसे इनाम और प्रतिष्ठा देते हैं। बोला—

"मुझे इसमें खुशी नहीं मिली। पर जब लोग तारीफ करते थे, तब जरूर खुशी होती थी। और आपसमें जो एक होड़का-सा भाव रहता था कि देखें, कौन ज्यादा दुश्मनोंको मारता है, उस होड़में जीतनेकी खुशीको भी खुशी कहा जा सकता है। असली मारनेमें तो दरअसल किसी तरहका स्वाद है नहीं।...और दुश्मन! मुझे नहीं मालूम, वे मेरे दुश्मन क्यों थे? जिन्हें मैंने मारा, मेरा उन्होंने क्या बिगाड़ा था? दुश्मन तो दुश्मन, मैं उन्हें जानता भी नहीं था। अब भी यह सोचनेकी बात मालूम होती है कि फिर वह क्यों तलवार खोलकर मेरी गर्दन काटने सीधा मेरी तरफ़ बढ़ा चला आता था और क्यों मैंने उसे अपनी तलवारकी धार उतार दिया, जब कि हममें कोई

तकरार न थी। कहीं-न-कहीं इस मामलेमें कुछ काला मालूम होता है। देखो, तुम हो, मैं हूँ। तुम-हम दोनों पहले कभी नहीं मिले, फिर भी बैठे बात कर रहे हैं, और एक दूसरेको कोई मारने नहीं आ रहा है, बल्कि एक दूसरेके काम ही आ रहे हैं। तुम कहोगे, इस बातकी हमें नौकरी मिलती है। लेकिन, नौकरी मिलनेसे इतना हो सकता है कि हम मार दिया करें, उसमें एक जीतका और खुशीका और अपने फ़र्ज अदा करनेका खयाल जो आ जाता है, वह कहाँसे आता है? सवाल है कि वह कहाँसे आता है? इसलिए कहीं कुछ भेदकी बात ज़रूर है। कहीं कुछ फ़रेब है, कुछ ऐयारी।...मेरा मन तो दो-तीन साल फ़ौजमें रहकर पक-सा गया है। अपने स्त्री-बच्चोंके बीचमें रहें, ज़मीनमेंसे कुछ उगाएँ, हाथके ज़ोरसे चीज़ोंमें कुछ अदल बदल करें और थोड़ेमें सुख-चैन-से रहें, तो क्या हरज है? मैं तो कभीसे वहाँसे आनेकी सोचता था। करते-करते अब आना मिला है।"

सुननेवाला 'हाँ—हूँ' करता हुआ सुन रहा था। वह जानता था, इस तरह चुप-चाप विना उकताहट जताये और विना सुने बात सुनते रहनेका उसे रुपया-धेली कुछ मिल ही जायगा। बीच-बीचमें वह योग भी देता था—"हाँ सरकार, हाँ सरकार।"

फ़ौजी कहता रहा —"मैंने अपने बच्चेको देखा तक नहीं। मेरे पीछे क्या हुआ हो और क्या नहीं। घरवालीको अकेले ही सब भुगतना हुआ होगा। मैं जो लौट आया हूँ, इसका क्या भरोसा था? छनमें मर भी सकता था। क्यों भाई, क्या कहते हो?"

"हाँ सरकार।"

"देखो, तुम भी यहाँ रहते हो। तुम्हें डर न झंझट। अपना काम है, अपना घर। घरसे कोसों दूर तो भटकते नहीं फिरते। न किसीकी चाकरीमें हो। इसमें क्या मजा है कि घरका आराम छोड़कर दूर जायँ, मुलाज़मत करें और उससे जो पैसे पावें, उसके बल लौटकर पड़ोसपर नवाबी ठसक जमावे। क्यों भाई, है न बात?"

वह पैसेसे भी और वैसे भी भरा था और व्ययशील हो सकता था। आशा उसे उठाये थी और सामने बैठे इस निम्नवृत्ति जीवके सामने उसे अपनेको बड़ा समझना और बड़ा दिखाना अच्छा लगता था। इस प्रकार अपने बड़प्पनसे स्वस्थ होकर वह इस जीवके साथ भाई-चारा भी बिना खतरेके दिखा सकता था। उसने जेबसे चवन्नी निकालकर सरायवालेको दी, कहा—"लो, बाल-बच्चोंको जलेबी खिलाना...। और

देखो, घोड़ा सबेरेके लिए जीन कसकर तैयार रहे। पचास कोसकी मंज़िल है, हम जल्दी घर पहुँचना चाहते हैं।"

भठियारेने ज़मीनकी ओर सिर झुकाया, कहा—"अच्छा सरकार।"

शाम होनेपर ज़रा इधर-उधर घूमा, रात बुलाई और खाना खा-पीकर सोनेकी चेष्टा करने लगा। सोचता था—सबेरे ही उठकर गज़रदम वह चल देगा।

*　　　*　　　*

जब रात सुनसान थी और वह गाढ़ी नींद सो रहा था, तभी एक व्याघात उपस्थित हुआ। पास ही कहींसे एक बच्चेके रोनेकी आवाज़ सुन पड़ी। उस बच्चे की माँ उसे बहुत मनाती थी, पर वह मानता नहीं था। शायद भूखा हो या हठीला। कभी माँ उसे झिड़कती थी, कभी पुचकारती थी। लेकिन बच्चा अच्छी तरह चुप नहीं हो रहा था।

बच्चेके लगातार रोनेकी वह आवाज़ उस सन्नाटेमें उसे बेहद अशुभ मालूम हुई। जो पत्नीसे मिलनेका सुख-स्वप्न देख रहा था, वह उचट गया। यह बेमतलबका क्रन्दन, बेराग, बे-स्वर, सन्नाटेको चीरकर आता हुआ उसके कानोंको बहुत अप्रिय लगा। पहले तो उसने चाहा कि वह सह ले और सो जाय। पर नींद असम्भव हो गई थी और वह राग रुकता न था। आखिर झल्लाकर जोरकी आवाज़से उसने भठियारेको बुलाया। भठियारा डरता हुआ आया और उसने उससे पूछा—"यह कैसा शोर है?"

"हुजूर, एक बच्चा है...।"

"बच्चा है तो बदशउर चुप क्यों नहीं रहता?"

"हुजूर, बीमार होगा।"

"बीमार है, तो उसके लिए यह जगह है? क्यों बीमार है?"

भठियारा चुप।

"साथ उसके माँ है?"

"हाँ हुजूर, है। वे कल यहाँसे चले जानेको कहते हैं।"

उससे कहो—"बच्चेको चुप करे, नहीं तो हमारी नींदमें खलल पड़ता है। चलो, जाओ।"

थोड़ी देरमें भठियारेने लौटकर बताया कि बच्चेकी तबीयत खराब है और भूखा भी है। मैंने डाँटकर कह दिया है। देखिए, जल्दी चुप हो जायगा।

लेकिन बच्चेका रोना जारी रहा। बच्चा और उसकी माँ कहीं पासहीकी कोठरीमें थे। यह भी सुन पड़ा कि उसकी माँने बच्चेके दो-तीन चपत जमाये हैं। लेकिन इस-पर बच्चेका चिल्लाना कुछ और प्रबल ही हो गया है।

"मर अभागे, तू मुझे और क्या-क्या दिखावेगा ?"—सुन पड़ा, माँने ऐसा कहा है और कहकर वह सिसकने लगी है।

सिपाहीने फिर नींद लेनेकी कोशिश की। पर बच्चेका चीखना उसी तरह जारी था। एक स्त्रीकी सिसक और एक बच्चेकी चीख सिरपर अगर चलती ही रहे, तो क्या चैन आसान है ? क्या उसको सहना सहज है ? सो सिपाहीकी सहन-शक्तिकी पराकाष्ठा जल्दी आ गई। फिर भठियारेको बुलाया—"यह बदनसीब चीखना नहीं छोड़ेगा ? उसे निकालो यहाँसे ?

"हुजूर, गरीब है। कुछ घंटोंकी बात है, सबेरा होते वह भी अपना रास्ता लेगी; हुजूरको भी तशरीफ़ ले जाना है।"

"नहीं, नहीं, बीमारोंके लिए यह जगह नहीं है। हम कहते हैं, उससे अभी कहो, निकल जाय। सोने ही नहीं देता।"

"हुजूर, इतनी रातको वह कहाँ जायगी !"

"कहाँ जायगी ? क्यों, सारी दुनिया तेरी सरायके ऊपर है ? अस्तबलमें रक्खो, कहीं रक्खो, जहाँसे शोर हमें बिलकुल न आए। समझे ?"

सरायवाला इसको पैसेवाला जान नाखुश नहीं करना चाहता था। उसे प्राप्तिकी करारी आशा थी। उसने बच्चेकी माँके पास जाकर कहा—"बराबरमें एक फौजके सरदार ठहरे हैं। बच्चेके रोनेसे उनकी नींदमें खलल पड़ता है। अगर बच्चा चुप नहीं हो सकता, तो तुम यहाँसे ले जाओ।"

स्त्रीने गिड़गिड़ाकर कहा - "बच्चेकी ऐसी हालतमें मैं उसे और कहाँ ले जाऊँ ? जाड़ोंके दिन हैं, आधी रात हो गई है। कुछ घंटे और ठहरो मालिक, तड़का होते ही मैं चली जाऊँगी।"

भठियारेने कहा—"नहीं, तुम अभी चली जाओ। नहीं तो वह खफा होंगे।"

स्त्रीने कहा—"उन सरदारजीसे हाथ जोड़कर कहो—मैं दुखिया हूँ। थोड़ी देरके लिए और मेहरबानी करें। बच्चेके बापका पता नहीं है। अब इसको कहाँ ढकेल दूँ ? पौ फटते ही चल दूँगी।"

भठियारेके मनमें न था कि यह जाय, पर सरकारकी खफ़गीका उसे डर था।

उसने कहा—"माई, किनारेका अस्तबल है, वह मैं तुम्हें बताये देता हूँ। रात वहीं काटो। तुम देखती नहीं हो, इससे मेरी रोज़ीपर खतरा आता है।"

इसपर उसने गोदसे बच्चेको उठाकर दूर ढकेल दिया, कहा—"लो, इसे ले जाके उनके पैरोंमें डाल दो, वह जूतेसे इसका ढेर कर दें। मैं फिर चली जाऊँगी।"

इतना कहकर वह दोनों हाथोंमें अपने सिरको लेकर धीरे-धीरे रोने लगी। उधर फ़र्शपर पड़ा बच्चा ज़ोरसे चीख रहा था।

सरायवाला इसपर सहमा-सा रह गया। उसने लौट आकर कहा—"हुजूर, कुछ घंटोंकी और बात है। आप उसे माफ कर दें। वह बहुत दुखिया मालूम होती है।"

इस आदमीको ऐसा लगा कि उसके हुक्मकी अवहेलना हो रही है। वह अपने कमरेमें टहलता हुआ जो कहन-सुनन भठियारे और बच्चेकी माके बीचमें हुआ, सब सुन रहा था। उसके मनको आराम नहीं मिल रहा था। उसको बुरा मालूम हो रहा था कि क्यों वह इस गंदी परिस्थितिमें पड़ गया? क्यों उसे जिद करनी चाहिए कि बच्चेको लेकर वह औरत ठीक इसी वक्त कोठरीसे बाहर निकल जाय? लेकिन जब भठियारेने उसके सामने आकर यह कहा कि उसे दया करनी चाहिए, तब मानो अपने विरुद्ध होकर उसने ज़ोरसे कहा—"तुमसे इतना नहीं होता और तुम अपनेको मर्द समझते हो? चलो हटो!" और ज़ोरसे धरतीको कुचलता हुआ वह उस ओर चला, जिधरसे बच्चेकी आवाज़ आ रही थी।

कोठरीमें दिया मद्धिम जल रहा था और दोनों हाथोंमें माथा थामे एक औरत बैठी थी। पास नंगी धरतीपर पड़ा हुआ बच्चा चिल्ला रहा था।

"अन्दर कौन है?"

अन्दरसे कोई नहीं बोला।

इस व्यक्तिने और ज़ोरसे कहा—"हम कहते हैं, अंदर कौन है? क्या तू बहरी है?"

स्त्री ज़रा ज़ोरसे सिसकने लगी और चुप रही।

"देखो, तुमको इसी वक्त बच्चेको लेकर चले जाना होगा। बच्चा रोता है, तो चुप नहीं रख सकतीं, और कहते हैं, तो मुँहसे जवाब नहीं फूटता!"

स्त्री चुपचाप उठी, बच्चेको उठाया और बाहर आकर उस व्यक्तिके पैरोंमें बच्चे-

को डालकर उसने कहा—"मैं चली जाती हूँ। इस बच्चेको तुम ठोकर मारकर जहाँ चाहे फेंक दो।" और वह चलने लगी।

वह व्यक्ति, जाने क्यों, एकदम सकतेसेमें पड़ गया। उसने कहा—"ठैरो, ठैरो! कहाँ जाती हो?"

स्त्रीने कहा - "जहाँ मौत मिले, वहीं जाती हूँ।"

व्यक्तिमें एकदम परिवर्तन होने लगा। उसने पूछा—"तो भी तुम कहाँसे आ रही हो और किधर जाती हो?"

स्त्रीने कहा—"पाँच बरससे इस बच्चेका बाप नहीं लौटा। वह लड़ाईपर गया है। कौन जाने, मर गया हो। कौन जाने, शायद लौटते हुए मुझे रास्तेमें ही मिल जाय। मैं उसीके पास इस बदनसीब बच्चेको ले जा रही हूँ।"

पुरुषकी आँखोंमें आँसू आ गये। उसने अपने बच्चेको अपने पैरोंपरसे उठा लिया। वह अपनी स्त्रीसे यह भी नहीं कह सका कि तुमने मुझे पहचाना नहीं। बच्चे-को चूमा-पुचकारा, और डोल-डोलकर गा-गाकर उसे मनाने लगा।

बिल्ली-बच्चा

६

घरमें एक शरबती नामकी लड़की थी। पीछेसे वह मोटी हो गई, चार बच्चोंकी माँ बनी और चल बसी। सुनते हैं, बड़ी होकर अपने तेज़ मिज़ाज़के लिए सरनाम थी। 'सुनते हैं' मुझे इस लिए कहना होता है कि यद्यपि वह मेरी लड़की थी, पर मेरे सामने तो उसके मिज़ाज़की तुरशी प्रकट होते हुए मैंने नहीं पाई। हाँ, शरीरसे स्थूल, तबियतमें और आदतमें आराम-पसंद वह पीछेसे अवश्य हो गई।

मैं तबकी बात कहता हूँ जब शरबती बहुत छोटी थी। कोई तीन वर्षकी होगी। उस समय वह बहुत दुबली-पतली थी, तोतल' बोलती थी और बैन उसकी बड़ो मोठी लगती थी। लड़कियोंमें छुटपनसे कुछ माँ-पम होता है। अपने छोटे भाई जिसका नाम बिज्जू भी था, बिज्जी भी था और विजयकुमार भी था, उसको वह बहुत प्यार करती थी। पैसा मिलता तो सैंतकर अपने बिज्जूके लिए रख लेती। मिठाई मिलती, तो भी स्वयं न खाकर उसीके लिए अलग धर छोड़ती। कई बार देखा गया कि आलेकी जिस गोलकमें संयमपूर्वक वह जिन पैसोंको जमा करती रही है, उनमेंसे अधिकांश कभी-कभी गायब भी हो गये हैं। और मिठाई अगर उसके संग्रहालयमें कुछ बची भी रही है तो वह सूख-साखकर निकम्मी हो गई है। किन्तु इन बातोंसे पाठ सीखकर शरबती अपने स्वभावको बदलनेमें नहीं लाती थी। पैसे मिलते तो फिर वहीं बटोर रखती और अपने हिस्सेके खेल-खिलौने या मेवा-मिठाई भी, उसी तरह बिज्जीके लिए जमा कर छोड़ती।

इधर बिज्जू बिज्जूसे कम न था। बड़ा ऊधमी लड़का था, शुरूसे ही जैसे वह नवाब साहब है। शरबतीका सब प्यार लेता है और बदलेमें उसे खूब मारता है। वह काटता है, नोचता है और बहनको खूब रुलाता है। बड़ी बहन होनेका ज़रा लिहाज़ नहीं करता। शरबती बेचारी खूब रोती है। रोती-रोती अम्माके पास जाकर शिका-

यत करती है। पर, कुछ देर बीतती नहीं कि वही शरबती आकर कहने लगती है—बिज्जो, ले, बर्फी नहीं लेगा ?

बिज्जू किलकारी भरकर लपकता है और बर्फी मुँहमें रखकर शरबतीका मुँह खँरोचने लगता है।

जिसपर शरबती कहती है – हट बदमाश !

बदमाश भला क्यों हटनेवाला है ! वह दोनों हाथोंके पंजोंसे उसका ऐसा मुँह खसोटता है कि शरबती चिल्ला पड़ती है—देख लेरी, अम्माँ। तू फिर मुझे कहेगी।

पीढ़ेपर बैठी अम्माँ कहती है—और खिला बर्फी। तुझे यह बड़ा निहाल करके रक्खेगा, जो तू इसे बर्फी खिलाती मानती नहीं।

उसके चार महीने बाद महाशय विजयकुमार चल दिये। उन्हें बुलाने चेचक माता आ गईं, और वह बचाये न बचे। पहले तो खूब बड़े-बड़े माताके दाने सारे बदनपर हो गये। देहींपर कहीं तिल रखनेको ठौर न बचा। जीभपर वही फफोले उठ आये और तालूपर भी। पलकके ऊपर भी दाने थे, वैसे ही पलकके नीचे। छह रोज तक सौके ऊपर तीन-तीन चार-चार डिगरी बुखार उसे रहा। आँखें बंद हो गईं और उनके ऊपर मोटे-मोटे दो फोड़े-से उठ आये। महाशय विजयकुमारको तब एक छन चैन न मिली। वह न इस करवट सो पाते, न उस करवट। जिधर सोयें उधर ही समझिए, शरीरमें बिंधे हुए काँटे गहरे-गहरे बिंधते थे। कल किसी तरह न थी। कंठमें सुर रहता, तबतक विजय बाबू चिचियाते रहते। दम न रहा, तब बेदम हो रहते थे। चेचकके दानोंसे विजय बाबूका कमल-सा सुन्दर मुँह ऐसा हो गया था – कि डर लगता था। आँखें उसमें नदारद थीं, चेहरेपर उठी हुई नाक कहीं भी न चीन्ह पड़ती थी, और मुँहकी बात पूछिए नहीं। इस हालतमें उनके पेटमें न कुछ खाद्य पहुँच सकता था, न पेय। कुछ ठंढे पानीकी बूंदें जो कहिए अनुमानके सहारे मुँह पहचानकर उनके ओठोंके बीचमें चुआ दी जातीं, वह पानी विजय बाबूको मानो अमित ठंढक पहुँचाता। विजय बाबू जैसे तब मुस्कराना चाहते। उस मुस्कराहटको देखकर आँसू रोकना मुश्किल हो जाता था। मुँह ऐसा डरावना, फिर भी ऐसा करुण लगता था कि··

खैर, वह दूसरी कहानी है। सात-आठ रोज़ अपनी अम्माँकी गोदमें पड़े रहकर उनकी और माता चेचककी छीना-झपटीमें विजय बाबूने एक सप्ताह तो निकाला। उस सप्ताहके बाद बाबू यहाँसे लंगर तोड़, राम जाने कहाँके लिए चल पड़े। डाक्टर भी

रह गये, उनकी अम्माँ भी रह गईं, हम भी रह गये। इन यों ही रह जानेवालोंमें शरबतीका नाम सहसा नहीं आता। शायद इसलिए कि वह अभी किसी गिनतीके लायक न थी। किन्तु, विजयके चल देनेपर वह तो जैसे एक ही दिनमें चालीस वर्षकी हो गई। उसका बिज्जी ग़ायब हो गया। इस विषयमें उसने न कुछ पूछा, न ताछा। वह बिलकुल नहीं रोई। जब खाना दिया खाना खा लिया, और काम कहा काम कर दिया। पर उसका हँसना उड़ गया था। न वह अब मचलती थी, न शिकायत करती थी।

मैंने कहा – बेटा शरबत!

उसके मुँहपर सुनकर कोई लाली नहीं आई। वह मेरे पास आ गई, आकर खड़ी हो गई। मानो कह रही हो—बाबूजी, मुझे गोदमें लेना चाहते हो तो ले लो। मैं खड़ी हूँ। मैं सामने हूँ तो।

मैंने उसे गोदमें खींचकर कहा—'बेटा शरबत!' ठोड़ीमें हाथ डालकर कहा—'बेटा सरो, क्या बात है?'

उस समय वह रो पड़ती तो मेरा चित्त हल्का हो जाता। वह न रोई, न कुछ बोली। मैंने गोदमें निकट खींचकर उसे चूमा, पुचकारा। मैंने कहा—बेटा, बिज्जो तुझे याद आता है? वह तो चला गया बेटा।

मेरा हृदय यह कहते-कहते आप ही भर आया। यह बात मुँहसे निकालनेका साहस मैंने जान-बूझकर किया था, जिससे कि लड़की रोए तो। किंतु वे शब्द निकलते-निकलते मुझे भी भर लाये। मैंने देखा कि वह शरबतीके भीतर तक भी गये हैं कि शरबती अभी सुबक उठेगी। मुझे उसके चेहरेपर दीखा कि उसके भीतर जैसे जम गई हुई वेदना छिड़ उठी है। वहाँ जैसे व्यथामें कुछ मन्थन हो उठा है। जैसे कि तटसे फूटकर कुछ अवश्य बहेगा। लेकिन तटपर आ-आकर भी आँसू तट लाँघकर नहीं आए। वह नहीं रोई।

उसकी माँ इस बातपर भयसे भर उठी। शरबतीको एक साथ ऐसी बुद्धिमती हो जाते देखकर उसकी माँ अत्यंत कातर हो गई। शरबतीका मन नहीं बहला, नहीं भरमा, और वह खाली भी नहीं हुई। वह ऐसी भरी रही कि कूलको तोड़कर बहनेकी उसमें आवश्यकता न प्रकट हो सकी। उसकी माँने आतङ्कसे भरकर मुझसे बार-बार

कहा—'अरे, क्या वह भी मुझे छोड़कर चली जायगी ? उसे क्या हो गया है ? तुम बताओ न, मैं क्या करूँ ?

किन्तु मैं क्या बताता।

तीन रोज़ खींचकर चौथे दिन शरबती खाटपर गिर गई। उसे बुखार हो आया। देखते-देखते बुखार बहुत तेज़ हो गया। वह बेहोश हो जाती और बड़बड़ाने लगती। उसकी माँकी चिन्तका ठिकाना न था। डाक्टर भी आये, हकीम और वैद्य भी आये। पर बच्चीकी बेकली कम होनेमें न आई। बेहोशी सबेरेके घंटोंमें कुछ उतरी पाती, उस समय गुम-सुम शरबती कमरेकी छतकी ओर देखती, या दीवारकी ओर देखती। तब वह अपनी माँको भी पहचानती थी, मुझे भी पहचानतो थी। पर हमारे लिए मानो उसे कुछ कहना न था। हमें सूनी आखोंसे देखती और उसी भाँति दृष्टि लौटा लेकर उन्हीं आँखोंसे वह दीवारकी ओर देखने लगती।

मैं पुकारता—बेटा शरबत !

माँ पुकारती—ओ सत्तो ! ओ मेरी बिटिया रानी ! ओ, मेरे बेटे राजा !

शरबती सुनकर चौंकती और आँखें फलाकर हमको देखती रहती।

वह बहुत ही दुबली हो गई थी। शरीरमें सींकसी हड्डियाँ बची थीं। उस समय जब कभी सोते-सोते वह मुस्कराती थी, तब देखकर मन आनन्दके साथ ही बड़ी व्यथा और आशंकासे भर आता था। पर नींद उसे बहुत कम आती थी। इतनी कल ही उसे कब पड़ती थी कि नींद आए। अधिकतर बेहोशीकी ही नींद उसे आती थी। उस बेहोशीमें प्रलाप जारी रहता जो उसमेंसे मानो बची-खुची शक्तिको खींचकर उलीच रहा था।

ऐसे ही दुबिधामें सात रोज़ बीते। उसकी माँ सब सुध बिसारकर सब काल उसीके सिरहाने बैठी रहती थी। जब बच्चीकी पलकें कभी कुछ देरको लग आतीं तभी उसके खटोलेकी पट्टीको वह छोड़ती थी।

तब धीरे-धीरे थपकाकर वह मुन्नीकी नींदको मानो उन पलकोंपर जमा देती, और जब नींद जम जाती तब फिर अचक पाँव धरती हुई वहाँसे वह कहीं जाती।

बच्चीकी हालत गिरती ही गई। जीनेकी चाह ही जैसे भीतरसे धीमी होती जा रही थी। डाक्टर हारने लगे और हकीम वैद्योंकी समझमें भी कुछ बात ठीक न बैठी। बस, बच्चीकी अम्माँका जी ही इस बारेमें पक्का था कि मुन्नीको जीना होगा।

बुखार तो कट गया था, पर शरीर छीजता ही जाता था। पथ्य कोई लगता ही न था। मानो अब तो वह अपनी माको सद्‌भिलाषाओंपर और उसके संकल्पके बल-पर ही जी रही थी।

एक रोज़ शरबतीकी आँख छब्बीस घंटेके बाद कहीं जाकर लगी, तब मा जरा उसे छोड़कर नित्य-कर्मसे तनिक निवृत्ति पानेके लिए उठकर उठी। पर इस बीच भी वह हर तरहकी आहटके प्रति चौकन्नी रह रही थी। थोड़ी देरमें उस ओरसे किसीकी बारीक चिचियानेकी आवाज़ उसने सुनी। वह भागी गई कि देखती है कहींसे मुन्नी-के खटोलेपर नन्हासा बिल्लीका एक बच्चा आ गया है। मुन्नीने दोनों हाथोंकी मुट्ठियों-में उसे ज़ोरसे दबोचकर रखा है और वह कीं-कीं कर रहा है।

अम्माको आते देखकर ही मुन्नीने कहा - अम्मा, बिल्ली-बच्चा!

उस समय उसके चेहरेपर जैसे कुछ लौटी हुई सुधिकी आभा दीखी। और मानो यह कहते-कहते बच्चेपरसे उसकी उँगलियाँ कहीं कुछ ढीली न हो गई हों, और भी उसे दबोचकर मुन्नीने कहा—अम्मा, बिल्ली-बच्चा!

बिल्लीके बच्चेने और भी ज़ोरसे किया—कीं-कीं-कीं। फिर भी मानो वह अपने पर क़ाबिज़ उस स्वामित्वसे बिछुड़ना न चाहता था।

बिल्लीका बचा सूखा-सा था। मानो किसीने अभी मुँहमें लेकर उसे बुरी तरह झकझोर दिया हो, वह सहमा हुआ था।

मुन्नीने कहा—अम्मा, दूध।

अम्माने खुश हो पड़कर कहा—दूध पियेगी बेटा?

मुन्नीने बिल्ली-बच्चेको दिखाकर कहा—बिल्ली-बच्चा, अम्मा।

माने डरकर कहा—बेटा, उसे छोड़ दे; पंजे-वंजे मार देगा।

और मा उसके हाथमेंसे बच्चेको ले लेनेके लिए आगे बढ़ी।

मुन्नीने अपनी मुट्ठियोंको मजबूत कर लिया। उसके चेहरेपर दीखा, मानो कि वह मुकाबिला करेगी। और बच्चा ज़ोरसे कींका।

मा पास आते-आते रुक गई, धीमी और स्निग्ध वाणीसे बोली—बेटा, उसे छोड़ दे। जानवर है, पंजे-वंजे गाड़ देगा।

मुन्नीने कहा—अम्मा, बिल्ली-बच्चा दूधू पीये। कहकर बच्चेको ज़ोरसे उसने अपनी छातीमें खींच लिया।

मा लौटकर एक कटोरीमें दूध ले आई।

मुन्नीने बच्चेको गर्दनसे दबोचकर उसका मुँह कटोरीमें करते हुए कहा- पी, दूधू पी, बिल्ली-बच्चे।

लेकिन बच्चा अपनी गर्दन छुटानेमें अधिक आग्रही रहा, दूधकी ओर समुत्सुक नहीं हुआ। मुन्नीने तीन-चार थप्पड़ उसको जमाये, कहा—नहीं पियेगा, ऐं ? नहीं पियेगा ?—पी, पी।

पीट-पाटकर जब फिर उसका मुँह कटोरीमें किया तब भी बच्चा हठपर ही कायम दीखा। उसने दूध पिया ही नहीं। मुन्नीने उसको उस समय बड़े प्यारसे थपका उसके बदनको सहलाया, उसके मुँहको अपने मुँहके पास ले जाकर प्यार किया, उसके गालोंको अपने गालोंसे रगड़कर कहा—पी ले मेरे बिल्ली-बच्चे, मेरे बच्चे। कहकर उसके मुँहका चुम्बन भी लिया।

इस बार बिल्लीका बच्चा अपनी छोटीसी जीभ निकालकर कटोरीका दूध चाटकर पीने लगा। लड़कीको यह देखकर बड़ा कुतूहल हुआ, उसमें इस बच्चेके लिए स्नेह जाग आया।

फिर तो अनायास ही जीवनका स्नेह भी उसमें खोया न रहा। उस दिनसे वह अच्छी होने लगी। हमेशा बिल्ली-बच्चेको अपने पास चिपटाकर ही सोती। जगनेपर कभी वह न मिलता तो उसे पाये बिना न खुद चैन लेती, न हमें चैन लेने देती।

उसके बाद तो आप जानते ही हैं कि एक दिन वह भी आया कि वह फल-फूलकर खूब मोटी भी हो गई।

'हंस' का अनुरोध पाया कि कहानी लिखो। कहानी लिखनेको तैयार होकर सोचता हूँ, क्या लिखना होगा। उसी समय तारवाला आकर एक तार दे गया। परमात्माकी दया देखो कि कैसी विचित्र है। तारमें है कि शरबती मर गई है। तारवाला अभी गया है। शरबती मेरी अपनी बेटी थी। इकलौती तो आप यों न कहने देंगे कि विजय भी मुझे मिला था, जो बचपनमें हो मुझसे छुट भी गया। तो भी लगभग जीवन-भर शरबतीको इकलौती ही समझता आया हूँ। छोटे-छोटे चार बच्चे छोड़ गई है। खैर ··· तार पाकर मुझे बिल्ली-बच्चेकी बात याद हो आई। सो आपको सुना दी है।

मुझे आशा है, कहानी-सुनकर आप कहानी-लेखक होने से सदा बचेंगे।

राज-पथिक

१०

भोजनकी थालीपर बैठे छोटे राजकुमारने पूछा— मा, वह महल लाल पन्नोंका है न ?

रानीने कहा—कौनसा महल, बेटा ? यह तुम कुछ खा नहीं रहे हो, खाओ।

राजकुमारने कहा—मा, सात समंदर-पार जो नीलमके देशकी छोटीसी रानी हैं, उनका महल लाल पन्नोंका तो है न ?

माने कहा—हाँ, बेटा, लाल पन्नेका है, और उसमें हीरे भी लगे हैं, और उस महलका फर्श—पर वह तो कहानी रातको होगी। अब तुम खाना खाओ।

बालक चुपचाप खाना खाने लगा। वह सोचने लगा कि नीलमदेशकी राजकन्या उस बड़े महलमें अकेली रहती है। कोई साथी-संगी पास नहीं है। कहानीका प्रतापी राजकुमार जबतक उसके पास नहीं पहुँचेगा, तबतक वह बेचारी अकेली ही रहेगी। वह बाट ही देखती रहेगी। नीलमके द्वीपमें उस राजकन्याका महल लाल पन्नोंका है। और उसमें हीरे भी लगे हैं और फर्श--राजकन्या बहुत छोटीसी है। दूधसी सफेद है और...

राजकुमारका जो उस राजकन्याके चारों ओर घूम रहा है। वह खानेमें नहीं है। उसने सोचा, राजकन्या अकेली क्यों है ? और वह प्रतापी राजकुमार जाने कितनी देरमें सात समंदरोंको पार करके वहाँ पहुँचेंगे—

सहसा बालकने कहा —मा, रानी अकेली हैं ? वह क्यों अकेली हैं ?

माने कहा—कौन रानी बेटा ? —हाँ, वह नीलमके देशकी रानी ? वह बेचारी तो सहस्रों वर्षोंसे अकेली ही है। प्रतापी राजकुमार जब वहाँ पहुँचेगा तब उसका उद्धार होगा और उस दिन उस नीलमके देशमें दूधकी वर्षा होगी।

बालकने कहा—मा, वह राजकुमार कब पहुँचेगा ?

माने कहा—बेटा, खाना खाओ। कहानी रातको होगी।

राजकुमार चुप हो खाना खाने लगा। उसने सोचा कि कहानी तो रातको हो जायगी, पर राजकन्या तो अकेली है। वह प्रतापी राजकुमार वहाँ जाने कब पहुँचेगा? क्योंकि, जो सात समंदर बीचमें हैं, वे बहुत बड़े-बड़े हैं। ऐसे क्या बहुत ही बड़े हैं? उन्हें तैरकर पार नहीं किया जा सकता? और वह राजकन्या अपने महलको सीढ़ियों-पर बैठी पानीकी परियोंसे कैसे बात करती होगी?

चुपचाप खाते-खाते सहसा बालकने पूछा—मा, वह रानी क्या खाती हैं?

माने कहा—क्या खाती है! समुन्दरके नीचेसे पानीकी परियाँ सीपके पात्रोंमें तरह-तरहके फल-फूल लाती हैं। फूलोंको वह सूँघ लेती है, फलोंका रस पी लेती है। और वहाँकी हवा स्वच्छ दूधकी-सी है। उसको पीती है।

बालकने कुछ विस्मित होकर कहा—नहीं मा, हवा नहीं पीतीं।

"तो क्या पीती है?"

"हवा नहीं पीतीं।"

"बेटा, तो वहाँ गौका दूध थोड़े ही होता है!"

"तो हवा ही पीती हैं?"

"और नहीं तो क्या!"

"अच्छा-आ!"

बालकको यह सूचना बड़ी अद्भुत मालूम हुई। उसने सोचा कि जब रात चाँदनी होगी, और वह अकेला होगा, तब देखेगा, हवा कैसे पी जा सकती है? उसने उत्साह-के साथ पूछा—मा! वह कपड़े कैसे पहनती हैं?

माने कहा—बेटा, खाना खाओ।

बालक खाना तो खाने लगा, लेकिन नीलमके देशकी रानी कपड़े कैसे पहनती हैं, यह उसकी समझमें नहीं आया। दो-चार कौर खाकर उसने फिर पूछा—नहीं अम्मा, नीलम देशकी रानी कपड़े कैसे पहनती हैं?

माने कहा—तुझे बताया तो था कि कपड़े कैसे पहनती है। रतनके जड़े कपड़े पहनती है। और सोनेके तारके वे बुने होते हैं।

बालकने निश्चयपूर्वक कहा—नहीं—

राजपुत्रको सन्देह होने लगा है कि माको सब बातें ठीक अच्छी तरहसे पता नहीं हैं। वह क्या जानता नहीं कि रतन पत्थर होते हैं, और सोना भारी होता है।

यह बिलकुल झूठ बात है कि नीलम देशकी रानी जब हवा पीती है, तब रतन-जड़े वसन पहनती हैं। पीती तो जरूर हवा ही होंगी, पर पहन रतन नहीं सकती। इसीसे उसने निश्चयपूर्वक कहा—नहीं।

माने कहा—क्यों भला ?

कुमारने कहा—रतन तो पत्थर होता है।

माँने कहा—तो फिर क्या पहनती है ?

"तुम बताओ, क्या पहनती है ?"

माने कहा—मैं तो समझती हूँ, कि तब वह कुछ भी नहीं पहनती।

"नंगी रहती है ?"

"हाँ, नंगी ही रहती है।"

वह बात राजकुमारको एकदम बहुत बुरी लगी। उसने एक साथ ही सामनेसे थाली सरकाकर कहा—झूठ, झूठ !

माने कहा—बेटा, खाना खाओ। रातको बातें होंगी कि वह क्या पहनती है ?

किन्तु बालकके मनको यह रानीके कुछ भी न पहननेकी बात तो एकदम अस्वीकार ही जान पड़ती है। नहीं-नहीं, कभी ऐसा नहीं हो सकता। उसे अपने नीलम देशकी रानीकी यह बड़ी भारी अवज्ञा मालूम होती है। छिः-छिः, मा इतना भी नहीं जानती कि ऐसा कभी नहीं हो सकता।

उसने कहा—नहीं, मुझे भूख नहीं है।

माने कहा—खाओ, बेटा, अभी तुमने खाया क्या है ?

बालकने गुस्सेमें भरकर कहा—मैं नहीं खाऊँगा ! रानी नंगी नहीं रहती हैं, तुमने क्यों कहा ?

माने हँसकर कहा—हाँ, हाँ, मुझे याद आ गई। वह सपनेके कपड़े पहनती है। मैं भूल गई थी। और वह चाँदनी से बारीक होते हैं।

बालकने बहुत सोच-विचारमें पड़कर पूछा—सपनेके कपड़े कैसे होते हैं, मा ?

माने कहा—तुम खाना खाओ, मैं बताती हूँ।

बालकने थाली पास सरका लेकर कहा—बताओ।

बालकने खाना शुरू किया, माने बताना शुरू किया। बताया कि सपनेके कपड़े बड़े महीन होते हैं। शबनम जानते हो, उससे भी महीन होते हैं। मकड़ीका जाला

देखा है, उससे भी महीन होते हैं। वैसे ही कपड़े वह नीलमके देशकी रानी पहनती है।

बालकने विस्मयसे कहा—अच्छा-आ !

* * *

उस नीलमके द्वीपमें जो सूने महलोंमें सहस्रों बरसोंसे अकेली, छोटीसी, राजकन्या रहती है, उस द्वीपकी रानी है, और आदिसे प्रतापी राजकुमारके आनेकी प्रतीक्षामें अकेलापन काट रही है, बचपनसे कल्पना उसीके चारों ओर अपना बसेरा बनाती रही है। राजकुमारके छः भाई और हैं, वह सबसे छोटा है। राज-काजमें उसकी आवश्यकता नहीं है, और वह माके प्यारकी छाँहमें क्षत्रियकी भाँति नहीं, फूलकी भाँति बढ़ रहा है। बढ़कर वह बड़ा हो रहा है। उसकी कल्पना अब पहले-जैसी कच्ची नहीं है। पर कल्पना तो सदा कल्पना ही है। जितनी अधिक अवास्तवताको वह अपना सके, उतनी तो वह बलिष्ठ होती है। वयके साथ राजकुमारकी कल्पनाका कर्त्तृत्व भी बढ़ता गया है। जो राजकन्या नीलमके देशके महलोंमें अकेली है, वही धीरे-धीरे उसके जीवनमें मानो अर्थ पकड़ती जा रही है। जैसे उसको लेकर यथार्थ ही उसे अपने भीतर अभाव अनुभव हो आने लगा है। प्रतापी राजकुमार क्या सात समंदरों को पार न करेगा? क्या वह यहीं उनसे घिरकर बन्द रहेगा? और वह नीलम देशकी राजकन्या अकेली ही रहेगी! बीचमें समन्दर सात हैं, और वे एक-से-एक दुर्लंघ्य हैं, तभी तो प्रतापी राजकुमारको उन्हें पार करना है। क्या अनन्त क्षीरोदधिके बीचमें सूने पड़े हुए महलोंमें कोई राजकुमार प्रतापी बनकर उसका अकेलापन हरण करने न पहुँचेगा?

किन्तु कहाँ है वह नीलमका देश? कौन है उसका दिशादर्शक? 'यह नहीं है' 'यह नहीं है'— यह ध्वनि तो युवक राजकुमारके हृदयमें स्पष्ट सुन पड़ती है। पर कहाँ है, इसका तो भीतरसे कोई निर्देश ही नहीं प्राप्त होता! वह प्रतापी राजकुमार कब उस एकाकिनीके पास पहुँचेगा?...सब छोड़ चल देना होगा। समन्दर सात हैं और जीवन थोड़ा है। समन्दरोंकी विकटता भी तो गहन है। सब छोड़ चल देना होगा, क्योंकि वह अनूढ़ा रानी प्रतीक्षामें है। राहमें कहाँ रुकना है, क्योंकि नीलम प्रदेशकी राजकन्या अकेली है। अनन्त क्षीरोदधिके वक्षमें, सूने महलोंमें वह अकेली है।

* * * *

अब राजकुमार राजेश्वर है। विधि देखो कि छहों उसके भाई राज-लिप्सामें मर-

कट गये हैं। राजा बननेको रह गया है यह, जो हृदयमें स्वप्नको पोसता रहा है, और जो दीन भी रहने दिया जाता तो क्या बुरा था।

किन्तु, वह राजेश्वर है। चारों ओर वैभव है। अभाव वहाँ कहाँ है? सब हैं, जो उसके आदेशकी प्रतीक्षामें हैं। कब राजेश्वरकी इच्छा हो और वे उसकी राहमें बिछ जायँ। अप्सराओं-सी सुन्दरी सात उसकी रानियाँ हैं। उन सबके लिए वही पति है। चारों ओर राज्यके काम हैं, जिन सबका वही अधिनायक है। इन सबमें अपनेको दान करनेसे वह चूका नहीं है। कर्मठ शासक है, वत्सल प्रतिपालक, प्रेमी पति। सद्यः वह पिता भी हुआ है, और बड़ा स्नेही पिता है।

किन्तु, सात-समंदर-पार नीलम देशकी वह राजकन्या क्या प्रतीक्षामें अकेली नहीं है? बीचमें समंदर सात हैं, क्या इसीसे वह अकेली रहेगी? क्या इसीसे राजकुमार प्रतापी होनेसे रह जायगा? क्या समंदरोंके इस ओर ही वह भरमा रहेगा? अरे कौन है वह राजकुमार जो सातों समंदरोंके ऊपरसे पार होकर आनेवाली नीलम देशकी अनूढ़ा राजकन्याकी प्रतीक्षाकी मूकवाणीको सुनेगा? सुनेगा, और चल पड़ेगा लाँघने वह सातों समंदरोंको? अरे, वह प्रतापी राजकुमार कौन है? क्या वह अभी नहीं जन्मा है?

राजनिष्ठ राजेश्वरके मनमें अहर्निशि उठता रहता है—'वह कौन है? वह कौन है? क्या वह अभी नहीं जन्मा है?' अपने राज-काज, राज-वैभव और राजरानियोंके बीचमें भी उसमें उठता रहता है—'वह कौन है? वह कौन है?' वह मानो स्वप्नमें सब कुछ करता है, जैसे परदेशमें हो, किसी मायापुरीमें हो। पूछता रहता है—'क्या वह प्रतापी राजकुमार अभी नहीं जन्मा है?'

अरे, समंदर क्या अनुल्लंघनीय ही रहेंगे और नीलमकी वह राजकन्या अनूढ़ा? और क्या प्रतापी राजकुमार यहाँ ही भरमा रहेगा? अरे, जब कि समंदर गरज रहे हैं, और उनके पार राजकन्या अपने प्रतापी वीरकी राह देख रही है, तब क्या वह यहीं सफेद दीवारोंसे घिरे महल, नियमोंसे घिरे राज्य, विलाससे घिरे जीवन और ममतासे घिरे पुत्र-कलत्रोंमें ही घिरा रहेगा! वह चल न पड़ेगा, उन समंदरोंको पार करनेके लिए जो उसके और अनंत प्रतीक्षामग्न उस एकाकिनी राजकन्याके बीचमें दुर्धर्ष होकर गरजते हुए लहरा रहे हैं? अरे, कैसा वह प्रतापी वीर है?

और एक रात, जब कि चाँदनी छिटक रही थी, रात आधीसे अधिक बीत गई थी, सब सोये पड़े थे। वाम पार्श्वमें स्वच्छ शय्यापर शिशु राजकुमारको छातीमें लेकर पटरानी स्वप्नमग्न थी, तब राजेश्वर समस्त आभरण उतार, सब छोड़, निरीह पथ-यात्री बनकर, चुपचाप चल पड़ा। चल पड़ा, कि उन सातों समंदरोंको पायेगा और पार करेगा।

वे कहाँ हैं? पर वह महल छोड़कर चला जा रहा है दूर, और दूर। वह चलता ही चला जायगा; जहाँ कहीं होंगे, उन समंदरोंको पायेगा और पार करेगा।

वह राजेश्वर चला जा रहा है अकेला, अनन्त-पथ-यात्री, कि नीलम देशकी राजकन्या मुस्कराये कि उसका प्रतापी राजकुमार आया है!

——

मौतकी कहानी ११

चर्चा छिड़ी प्रेमपर, आ पहुँची मौतपर। किस रास्ते प्रेमसे चलकर इस बेहूदे विषयपर हमारी चर्चा आ गई, यह हमको ठीक तौरसे पता नहीं चला। हमारी क्लब-मंडलीके रस-प्रधान सदस्य बाबू प्रेमकृष्ण भटनागर एडवोकेटने कहा—यह मौत जाने कहाँसे बीचमें कूद पड़ती है कि हमारा सब करा-कराया चौपट कर देती है। इसके मारे नाकमें दम है। आज यहाँ बैठे हैं, कलका भरोसा नहीं। ऐसेमें क्योंकर कुछ करनेको जी चाहे। यही है, कि जाने कब वह बीचमें आ टपके ; इसलिए जितने दिन रहना, मजेसे रहना ; अपना तो यही उसूल है।

इसके समर्थनमें फिर एक शेर कहा, जो मुझे याद नहीं है।

प्रोफेसर ज्ञानविहारीने कहा—बस, अब वह थोड़े ही दिनोंकी मेहमान है। अब भी अपनी दवाइयोंसे कम्बख्तको साल-दो साल दूर भगाये रखते हैं। थोड़ी देर और ठहरनेकी बात है, फिर तो उसे ऐसी धता बताई जायगी, कि इधर भूलकर भी मुँह न करे।

प्रोफेसर ज्ञानविहारी साइंसके बड़े प्रोफेसरोंमेंसे थे और पदार्थ-विज्ञानमें विशेष पैठ रखते थे।

डा० विद्यास्वरूपने कहा—उसकी आवश्यकता अब धीरे-धीरे समाप्त होती जा रही है। जीवन क्या इसलिए है, कि उसका अन्त मौतमें हो जाय? नहीं, जीवनकी यह हार चिरकालीन नहीं हो सकती। जीवनका कुछ अर्थ ही नहीं, अगर मौत उसके आगे फुलस्टापकी तरह आकर बैठ जाये। इसलिए मृत्यु स्थायी वस्तु नहीं है। प्रकृति हमें इसलिए नहीं जिला सकती कि पीछेसे हमें मार देना है। कहीं कुछ गड़बड़ अवश्य है जो हम मरते हैं। नहीं तो मरना अप्राकृतिक होना चाहिए, असंभव होना चाहिए।

मैंने पूछा—मौतका खाता बन्द हो जायगा, तो जन्मका सिलसिला भी रोक देना पड़ेगा। नहीं तो धरतीपर ऐसी किचकिच मचेगी कि साँस लेनेको भी जगह न रहेगी। बच्चे नहीं होंगे, तो स्त्री भी नहीं रहेगी। फिर पुरुष भी ऐसे नहीं रहेंगे। सब मिलकर हिंजड़ेसे बन जायँगे। क्यों यही बात है न ?

इतनी दूरकी बात विद्यास्वरूपजी और ज्ञानविहारीजीने काहेको सोची होगी। वह सहसा उत्तर न दे सके। ज्ञानविहारी हँस पड़े, और विद्यास्वरूप, जैसे सोचमें पड़ गये। वह पी-एच्० डी० हैं ; इसलिए हर बातको उन्हें हस्तामलकवत् जानना चाहिए, ऐसा उनका खयाल है।

मि० खन्ना एडीटरने कहा – होगी, नहीं होगी, इससे हमें कुछ मतलब नहीं; पर चीज़ बड़ी खराब है। मेरा वश चले, तो एकदम रोक दूँ।

मैंने कहा—मेरी भी यही राय है। इस चीज़को अभी रोक देना चाहिए। और इसके लिए अभी यह काम करना चाहिए कि अगली बार, इस मनमाने परमात्माको खींचकर जब अपनी मर्जीके मुताबिक वोट देकर परमात्मा बनानेका मौका आये, तो इसके लिए हम तैयार रहें। खूब वोट्स कनवास करें, और मि० खन्नाको उसके लिए चुन डालें। मिस्टर खन्ना गये, कि हमें मौतसे छुटकारा मिल जायगा।

'इसी तरहकी बातोंसे हम मौतको पकड़कर ज़िन्दगीका मजा लेने लगे।'

मैंने कहा—हम लोग उसके पीछे इतनी बड़ी-बड़ी बातें बनाते हैं। खतम कर देंगे, यह कर देंगे, वह कर देंगे। सामने जब वह आ पहुँचेगी, तो मुँहसे बात भी न निकलेगी।

प्रेमकृष्णने कहा – वाह, मौतकी क्या बात है ! सैकड़ों हँसते-हँसते मर जाते हैं। कैसा मलाल, कैसा दुःख, ज़रा कुछ भी जो उन्हें खयाल होता हो। पर ऐसा वही कर सकते हैं, जो ज़िन्दगीका लुत्फ़ उठाना जानते हों। वही मौतका भी मज़ा ले सकते हैं।

फिर बात चली, कि किसीने मौत देखी भी है या नहीं। आमने-सामने देखी हो, यह नहीं कि किताबोंमें पढ़ लिया, या दूसरेको मरते देख लिया।

सब सहमत हुए कि भय नामका देव है, सचमुच बड़ा डरावना। और सोचने लगे, कि वास्तवमें किसी अस्त्र-शस्त्रसे आदमीको नहीं मारता, दरअसल मारता ही नहीं, आदमी उसे देखकर डरके मारे आप ही मर जाता है।

एक हमारा मेम्बर है प्रमोद। इस स्थलपर वह भी आ पहुँचा। हम सब लोगोंको बड़ी खुशी हुई। पूछा—तुम तो कलकत्ते थे, कब आये?

उसने कहा—बस, आ ही रहा हूँ समझो। सोचा शामका वक्त है, पहले आप ही लोगोंसे मिल लूँ, फिर और कुछ करूँगा।...क्या बातचीत है?

प्रेमकृष्णने कहा—बड़ा झमेला आ पड़ा है। सवाल यह है कि किसी ने म्याऊँका ठौर पकड़ा है।

लगभग साथ ही मैंने कहा—बात यह है कि मौतका मामला है। यह जानना है कि किसी ने उसे आमने-सामने देखा है। तुमने इतना सब-कुछ देखा; पर इसे भी देखा है?

प्रमोदने कहा—आप लोगोंको शामके वक्त यहाँ क्लबमें मौत देखनेकी सूझी है। यही था, तो अकेले मरघटमें जाकर बैठते। वहाँ देख पानेकी कुछ आशा भी हो सकती थी। वास्तवमें मौत अपना रंग बदलती रहती है। किसीको कैसी दीखती है, किसीको कैसी। अब कुछ, तो फिर कुछ। या कहो कि वह वैसी ही रहती है, अलग-अलग आदमियोंको अलग-अलग तरहकी दीखती है। मैंने जब देखा था, तब तो बिलकुल डरावनी नहीं मालूम हुई थी, अब जाने कैसी लगेगी।

हम सब जाननेको बड़े कुतूहल-ग्रस्त हुए कि इसने कैसे उसे देखा, और इसे क्यों डरावनी नहीं लगी।

डाक्टर विद्यास्वरूपने हँसकर कहा—मौत जिसे देखती है, उसे अपने साथ ले जाती है। इसलिए कि कोई उसे देखकर यहाँ फिर उसका भेद न खोल दे, जिससे उसका सारा डर-वर जाता रहे। तुम तो यहाँके यहाँ मौजूद हो!

प्रमोदने कहा—तो आप चाहते हैं, मैं यहाँ न होता, कहीं और चला गया होता। आप क्या चाहते हैं कि मैं स्वर्ग-लोकमें चढ़ गया होता, या नरकलोकमें जा पड़ा होता। या बताइए, आप चौरासी लाख योनियोंमेंसे किस योनिमें मुझे भेजना पसन्द करते?... मैं तो अपनेको बिलकुल छोड़ बैठा था कि मुझे अब कोई ले जाय, अब कोई ले जाय। पर कोई लेने ही नहीं आया। और पाँच मिनट इस मौतके चक्करमें पड़े रहनेके बाद मैं चंगा हो गया। शक है कि पाँच मिनट भी लगे या न लगे। शायद तीन ही मिनटमें सब काम हो गया हो। उन तीन मिनटोंके बाद मैं जैसा भला-चंगा था, वैसा ही हो गया। पान मैं तभीसे नहीं खाता हूँ। मौतसे डरनेके बजाय मैं पानसे डर लेना अपने लिए काफी समझता हूँ।

इस तरह बहुत देरतक खूब भिकाकर खूब उकसाकर, जो कहनी उस कम्बख्तने हमें सुनाई, वही मैं आज आपको सुनाता हूँ। उसके लिए आप मुझे जिम्मेदार न मानें।

* * * *

उसने कहा—

पहले आप यह समझ लीजिए कि मैं हमेशा ऐसा न था। जब पढ़ता था, तब अच्छा शकील था, जवान था। जाने उम्रके साथ शकल क्यों बुड्ढी होती है। शकल का क्या जाता है, जो वह उसी तरह भरी गुलाबी नहीं रहती। अबको शकलसे आप बिलकुल अन्दाजा नहीं लगा सकते कि मैं कामदेव था, और मन आसमानमें रहता था। तब सोचता था, ब्याह नहीं कराऊँगा। क्या ब्याह-ब्याह! घरके अन्दर ही नोन-तेल-लकड़ीके चक्करमें पड़कर घूमते रहो, और एक दिन आये कि थकथकाकर वहीं ढेर हो जाओ। तब कोई कहता कि तू अड़तीस बरसकी उमरमें चार बच्चोंका बाप होकर फिर दूसरे ब्याहके लिए मरता फिरेगा, तो मैं उसे थप्पड़ लगाकर गाली देनेका मजा चखा देता। पर आज मैं अचरज नहीं करता। यहाँ हर बातपर अचरज करते फिरोगे तो उसीमें मर जाओगे। ज़र्रा-ज़र्रा यहाँका अचरजसे भरा पड़ा है। यहाँ तो अपने काम-से-काम रखना चाहिए! तो मैं आपको वह बात सुनाऊँ। बहुत दिनोंकी बात हो गई है। मैं सेकंड ईयरमें था, या थर्ड ईयरमें, अच्छी तरह याद नहीं। उस दिनों में बड़ी सुधारकी बातें सोचा करता था। गाँवोंमें विद्याकी कितनी हीनता है, और हम लोग जो पढ़े-लिखे हैं, इस ओर अपना ऋण बिलकुल नहीं चुकाते हैं—यह सोचकर मुझपर जिस भारी कामका उत्तरदायित्व है, उसका बोझ मैं अपने कन्धोंपर अनुभव किया करता था। सोचता था—जरा पढ़ लूँ, कुछ हो जाय, फिर गाँवोंकी हालत सुधारनेमें लग जाऊँगा। जीवनकी सफलता है उत्सर्गमें, बने-बने फिरनेमें कुछ नहीं है। उन दिनों यह बात मानो मैंने अपनी रग-रगमें समा ली थी। दधीचि और शिविके कार्य और सनातन आदर्शको मानो खींचकर अपने भीतर रख लिया था, और उसे ऐसा सजग रखता था कि कभी आँखसे वह ओझल न होने पाये। उसके प्रकाश और उष्णताकी ओरसे कभी चित्त फेरकर रह ही न सकूँ, उस आदर्शको ऐसा प्रज्वलित करके मैंने अपने भीतर समा रखा था।

मेरे एक दूरके चाचा थे। वह गाँवके ज़मींदार थे। वहीं रहते थे। दाँतोंके बीचमें

जैसे जीभ रहे, वैसे ही मानो अपनी कुशलताके बलपर वह वहाँ रह पाते थे। उनके पिताने कहीं दूर देशसे आकर अपने एक मित्रकी सहायतापर भरोसा रखकर, असम्पन्न दशामें वहाँ पैर रखा था। वह साथ कौन भाग्य लाये थे, कि जहाँ कृपाप्रार्थी और कृपाजीवी होकर पैर-भर रखनेकी उन्होंने जगह पाई थी, वहाँ ही हवेली उठकर खड़ी हो गई। और इसके साथ ही उनके मित्र, जो वहाँके ज़मींदार थे, उनका सब कुछ गिरने लग गया। होते-होते यह मित्र हाल-बेहाल हो गये और मेरे चाचाके पिता, बिस्वा-बिस्वा होते, गाँवके बीसों बिस्वे ज़मींदार हो चले। पुरानी ब्राह्मणोंकी अमलदारी और ज़मींदारी उखड़कर वहाँ बिना किसी उत्पातके एक बनियेकी अमलदारी कायम होने लगी, तो गाँवके कुछ वृद्ध ब्राह्मण पुरुष चेते। उन्होंने दल बनाकर—कटिबद्ध होकर इस वैश्य-पुत्रका मुकाबला करनेका निश्चय कर लिया; पर उनकी प्रमत्तावस्थामें युग-धर्मने ब्राह्मण-वृत्तिको तलाक देकर वैश्य-वृत्तिको वरण कर लिया है – यह उनको पता नहीं था। इस गाँवमें ही नहीं, और बड़ी-बड़ी जगह आकर बनियोंने सिंहासनपर अपना स्थान बना लिया है, और उन्होंने बड़ी-बड़ी अदालतें और बड़ी-बड़ी चीज़ें खड़ी कर दी हैं, इसका भेद भी उन्हें अच्छी तरह नहीं मालूम था। इसलिए इस अज्ञानतामें उस ब्राह्मण-दलने जो कुछ किया, अदालत आदि बहुत-सी बाहरी वस्तु (Factors) बीचमें आ जानेके कारण ऐसा कुछ हुआ कि वह उन्हींके मुँहपर आकर पड़ा। वैश्य-पुत्रके झूठे मामले भी सच्चे होने लगे, और उन्हें अपनी मौरूसी जमीनसे बेदखल होना पड़ा। इधर उनके सच्चे मामले भी चित्त पड़ने लगे। इसका परिणाम यह हुआ कि ब्राह्मण-दल चुप हो बैठा—खुलकर वैध-रूपसे कुछ कर पानेकी आशा छोड़ बैठा। और अकेला एक वैश्य सर्वशक्तिमान् होकर वहाँ राज्य करने लगा। सर्व-शक्तिमान् होनेसे मेरा मतलब यह है कि वह सब शक्ति, जो बाहरसे जमा हो सकती थी, उसके पैसेके नीचे आकर इकट्ठी हो गई। वस्तुतः वही सब पराई शक्ति वैश्यके पैसेसे पुष्ट होकर वहाँ राज्य करती थी। मेरे चाचाके वह पिता तो अपनी निजकी भीतरी शक्तिके अभावमें बेचारे राज्य क्या करते थे, उस राज्यके विस्तारमें कैद होकर अपनी जानके लिए डरते-डरते दिन बिताते थे। जो उन्होंने जमा कर पाया था, उसका बहुत-सा भाग उसको कायम रखनेके लिए, और उसके कारण जो डर उन्होंने अपने चारों तरफ खड़ा कर लिया था, उससे अपनेको बचानेके लिए उन्हें खर्च करना पड़ता था। लेकिन जो डर भीतर है, उससे बचनेके लिए लट्ठ लेकर बाहर आदमीको खड़ा कर

देनेसे तो काम नहीं चल सकता। इससे डर तो उनका जाता नहीं था, हाँ, अपनी आयके इस तीन-चौथाई खर्चसे परमुखापेक्षिता उनके हाथ अवश्य आती थी।

लेकिन एक तरहके वह दबंग आदमी थे, और चतुर थे। वाणीमें एक प्रकारका प्रभुत्व था। भीतर खटका रहता था, पर बाहरसे ऐसे निश्शंक होकर, डाँटकर बोलते थे, कि सबको दबदबा मानना पड़ता था। इसलिए वह तो ठीक तौरसे चालीस बरस की अवस्थामें मर गये। वह स्थूलकाय थे, भीतर लगे डरके कीड़ेको दस बरसतक उनके कलेवरमेंसे खाद्य मिलता रहा। अन्तमें उसने चालीस बरसकी अवस्थामें बिलकुल खोखला करके उन्हें गिरा दिया और इस संसारसे विदा कर दिया।

पीछे छोड़ गये दो लड़के।—

'क्या? कहानी कहूँ? भूमिकाकी जरूरत नहीं है?' मेरे टोकनेपर मेरी ओर मुड़कर उसने कहा—'भूमिकाके बिना तो कुछ हो ही नहीं सकता। वह तो बड़ी ज़रूरी चीज़ है, जैसे लंगूरको पूँछ उसके लिए बड़ी जरूरी है। उसके पूँछ न हो, तो आप समझते हैं. वह कूदता-फाँदता रह सकता है? लंगूर तो वह दरअसल पूँछके कारण ही है, नहीं तो सिर-धड़ तो हरेकमें होता है। वास्तवमें वह पूँछहीसे लंगूर है, बाकी सब व्यर्थकी बात है। यही कहानीकी बात है। भूमिका...'

'मैं बाज आया एसे टोकनेसे।' मैंने कहा—'अच्छा-अच्छा, बाबा, जैसी मर्जी हो तुम्हारी, कहो। नया लेक्चर मत शुरू करो।'...

उसने बिना रुके कहना जारी रखा—आप उकताते हैं, तो मैं छोड़ देता हूँ। लेकिन फिर आपके पछतानेका मैं दोषी नहीं हूँगा। मैं अब बातपर ही आ रहा हूँ। हाँ, तो हमसे कटे हुए हमारे दादा मेरे दो चाचा छोड़ गये।

घबड़ाएँ नहीं। यहाँ एक बात और कहूँगा। जबकी बात कहता हूँ, उससे एक साल पहलेतक इन चाचाओंके अस्तित्वका मुझे पता भी नहीं था। बात यह थी कि हमारे दादा दो भाई थे। छोटे भाईकी बहू शादीके दो साल बाद मर गई। अब दूसरे ब्याहके लिए बिरादरीमें लड़की न मिली। हारकर हमारे सगे दादाने छोटे भाईका ब्याह बिरादरी छोड़कर कर दिया। नतीजा यह हुआ कि हमारे परदादा जातसे खारिज हो गये। खैर, वह तो दंड-वंड देकर और दो एक ज्यौनार देकर फिर जात-बिरादरीमें आ गये। छोटे दादाको काटकर ऐसा अलग कर दिया गया कि उनसे सम्बन्ध रखना पातक हो गया। बिरादरीके लोग इसपर कड़ी निगाह रखने लगे कि वे लोग आपसमें

खान-पान तो एक नहीं करते। उनकी निगाह बचाकर सम्बन्ध कैसे बनाया रखा जा सके? घरसे टूटकर आखिर और कहीं उन छोटे दादाको अपना बसेरा बना लेनेको लाचार होना पड़ गया। ऐसी ही हालतमें भटक-भटकाकर वह आगरा जिलेके उस गाँवमें जा पहुँचे थे। वहाँ, जिस तरह वह ज़मींदार बन बैठे, यह आपको मालूम हो ही गया है।

हम सब बच्चोंको उन चाचा-दादाके अस्तित्वके बारेमें चिन्ता-पूर्वक बिलकुल अँधेरेमें रखा जाता था। इसलिए पिछले साल जब मुझे एकदम पता चला कि हमारे एक चाचा हैं, जो गाँवमें रहते है, ज़मींदार हैं, तो मुझे अचरजके साथ प्रसन्नता भी हुई। दिल्ली शहरमें रहता था और जाने गाँधी-वाँधी किस-किसकी किताबें पढ़ता था; इसलिए गाँवकी भूख जीमें बड़ी लगी रहती थी। चाचाके गाँवमें रहनेकी बात क्या सामने आ गई, भूखेके सामने परसी-परसाई थाली आ पहुँची। और साथ ही उसके साथ बड़े प्यारका खाओ-खाओका अनुरोध भी आया।

वह बात यों हुई थी —

हमारे घरोंमें यों तो आना-जाना लगभग नहीं था। चिट्ठी-पत्री भी नहीं आती-जाती थी। फिर भी आत्मीयता थी, ऐसी भी आत्मीयता होती है, जो आने-जाने, चिट्ठी-पत्रीके व्यवहारपर टिककर ही नहीं जीती। वह बिना इस सहारेके यों ही सदा हरी रहती है। सो एक दिन उनमेंसे बड़े चाचाकी चिट्ठी आई कि छोटे भाईको दुश्मनोंने लाठीसे बड़ा मारा है, बच जाय तो खैर समझो, नहीं तो उम्मीद बिलकुल नहीं है। पिता आदिको तुरंत आनेके लिए लिखा था। हम लोगोंको भी साथ बुलाया था। पिताजी खबर पाते ही फौरन चले गये, और स्त्री-वर्गने रोना आरम्भ किया। मुझे मेरी मातासे यह भी मालूम हो गया कि अभी एक महीना पहले घर आकर जो मुझे खूब बाजारकी सैर-वैर कराने ले गये थे, और जिन्होंने मुझे तरह-तरहकी चीज़ें खिलाकर और तमाशे दिखाकर मेरी खूब खातिर की थी, वही मेरे छोटे चाचा थे, जिनके मारे जानेकी खबर आई है। उनकी याद तो मुझे खूब थी। वही चाचा थे और उनको ही दुश्मनोंने मारा है, यह मालूम करके मेरा जी भरकर फूट चला और एकान्तमें जाकर रोने लगा।

फिर वह मर गये, अच्छे नहीं हो सके। वह कालिजमें एम० ए० में पढ़ते थे। और हममें-अपनेमें किसी तरहका अन्तर नहीं मानते थे।

अगले वर्षको गर्मीकी छुट्टियोंमें मैं अपने चाचाके पास गया।

बस, अब मैं कहानीपर आ गया हूँ। सुनिए।

* * * *

मैंने जाकर देखा, चाचा उस बड़े-से गाँवमें बुरी तरह अकेले रहते हैं। अपने पिताकी तरह खर्च करनेका शौक उन्हें नहीं है। इसलिए पैसा खर्च कर कुछ मुसाहब-कारिन्दोंको भी वह अपने पास नहीं जुटा सके हैं। वह एफ्० ए० तक अँग्रेजी पढ़े हैं। उसके बलपर अफसरोंसे कुछ दोस्ती बना बैठे हैं। और उस दोस्तीके बूतेपर छोड़कर और कर्तव्य-परायण होकर अकेले-दम अपनी जमीनदारीका काम चलाते हैं।

यहाँ आकर गाँवमें मेरा यह करने और वह करनेका इरादा सब मिट्टी हो गया। यहाँका हाल-चाल ही कुछ टेढ़ा दिखाई दिया। मैं अपनी सदिच्छाओंको लेकर लोगोंके पास पहुँचता, तो उनकी जुबान जाने कहाँ चली जाती। यों दिन-भर हुक्केके चारों ओर खाटोंपर बैठकर कहाँ-कहाँके कुलावे मिलाया करते होंगे, मेरे जाते ही गुम-सुम हो रहते। मैं जानता हूँ, मैं कोट-पेंटमें रहता था, बिलकुल उन्होंकी बोलीमें मैं बात नहीं कर सकता था। लेकिन क्या वह समझते हैं, उनमें मिलकर काम करनेके लिए कोई पूर उनके जैसा होकर ही रहेगा? मैंने भी सोचा, अगर नहीं है गरज़ उन्हें शिक्षा और रोशनीकी, तो क्यों मैं व्यर्थ बहुत-सी चिन्ता मोल लेकर हैरान होता फिरूँ। मैं फिर अधिकतर घरमें रहने लगा। कभी अकेले बागोंमें, खेतोंमें सैर करने सुबह-शाम निकल जाया करता।

चाचा ने पैतृक-रूपमें दो चीज़ें खूब प्रचुरतामें पाई थीं—एक द्रव्य और दूसरे अदालत-बाज़ीका शौक। दूसरी वस्तुको उन्होंने खूब बढ़ा-चढ़ाकर उत्कर्षपर पहुँचा लिया; इसलिए पहली वस्तु उतनी प्रचुरतामें संगृहीत न रह सकी। वह द्रव्य पानीकी भाँति द्रवित होकर बह-बहकर अदालतके गड्ढेमें जा गिरने लगा। और उस गड्ढेके पानीमें उसके चारों ओर बसनेवाले जीव, टर्र-टर्र करते हुए, उसे भर-प्यास पी-पीकर, खूब स्थूल होने लगे।

चाचाके उस अदालतबाज़ीके शौकका मेरे हितमें यह परिणाम हुआ कि मैं अपना दिन भर चाचीके पास बितानेको खाली पाने लगा। चाची भी मेरे साथ बात-चीत करनेको अपनेको खाली पाने लगी। वह होंगी कोई २२-२३ वर्षकी, पढ़ी-लिखी अच्छी थीं और समझदार तो...

प्रेमकृष्णने बीचहीमें कहा — अब इतनी देरमें आई कहानी ! हाँ, पढ़ी-लिखी थीं, और कैसी थीं ?

प्रमोदका स्वर भारी हो आया। उसने कहा — कहानी आई नहीं, उनके साथ तो कहानी गई। वह अब नहीं हैं। मैं फिर दुबारा उनके घर पहुँचा, तो शव देखने पहुँचा। मैं समयपर पहुँच जाता तो आशा है, वह मरने न पातीं। वह मुझे बहुत प्यार करती थीं। अपने बेटेको भी इतना न करती होंगी।

प्रेमकृष्ण चुप हो रहे। प्रमोदने रूमाल मुँहपर फेरकर कहना जारी रखा —

वह बड़ी स्नेहशीला थीं। सबको वह प्यार करती थीं। मैं उनकी बातोंको सुनकर अघाता न था ; क्योंकि उन सबमें उनका स्नेह बहता रहता था। वह अक्सर लाला-देवर-का जिक्र करती थीं। घण्टों हो जाते, लालाकी बातोंका पार न आता। उनका अतीत लाला-लाला-लालासे भरा था। एक पग भी उसमें रखतीं कि लालाकी किसी-न-किसी बातसे आ ठुकरातीं। वह बात फिर जीमें विद्रोह मचाती हुई उमड़ आती। और उसके बाद सिलसिला बाँधकर लालाकी मूर्तिके साथ जुड़ी हुई और-और सब बातें भी, सिनेमा चित्रोंकी भाँति आकर फिरती हुई चली जातीं, और उसी प्रकार कतार बाँधकर आँसू भी ढुलकते चले जाते।

मैं कुछ वैसे ही एक बारके साक्षात्कारसे, स्वर्गीय छोटे चाचाके प्रति कुछ आर्द्र भाव रखता था। अब वे अत्यन्त कोमल और अत्यन्त दृढ़ हो गये। मैंने उनके चित्रको अपने सामने बिलकुल प्रत्यक्ष कर लिया। उनके जीवन और मृत्युके प्रत्येक विवरणसे मैंने अपनेको अवगत कर लिया।

इधर चाची सुनाया करती थीं, उधर शामको मौका पाकर चाचाजी वही अपने छोटे भाईकी हत्या का हाल सुनाते थे।

जिन्होंने उनके भाईकी हत्या की, उन सबके नाम वह जानते है। इस बारेमें उन्हें बिलकुल ही सन्देह नहीं है। प्रमाण असन्दिग्ध हैं। पर लाख कोशिश करनेपर भी उनमें किसीको भी सजा न मिल सकी। गाँव-का-गाँव जो विपक्षमें होकर, एक बन बैठा है, उसके कारण गवाह नहीं मिल पाते हैं, यह अंधेरखाता है।

जिन-जिनके नाम बताये गये कि इन्होंने उस हत्यामें भाग लिया था, वे मेरे अपने-आप दुश्मन बन गये। उनमें डालचंदका नाम और उसका भाग प्रमुख था। पहले उसीने लाठी मारी थी, इस बारेमें काफी सबूत चाचा पा चुके हैं। इसमें कोई शक है

ही नहीं। उस क्रूरने गिरनेपर भी कई लाठियाँ मारी थीं। वही छोटे चाचाका हत्यारा है। यह भी पता चला था कि वह अभीतक इनका कर्जदार है और उस सिलसिलेमें जब कभी मिलता है, बड़ी भलमनसाहतसे मिलता है। बड़ा विनीत बन जाता है। व्यवहार-चलनमें बड़ी मिली-भगत रखता है। आये-गये नेग-काजपर चाचाके यहाँ न्यौता-तक भेज देता है। बात मीठी करता है, पर भीतर छुरी है। पास एक गाँव है, उसका चार आना मालिक है। बड़ा रोबवाला और रसूखवाला आदमी है; पर एक नम्बरका बदमाश है। कम्बख्त किसी तरह हाथ नहीं आता।

इसके बाद परसादीलाल, माधोरामके भी नाम आते थे। उन्होंने भी अपने मनकी करनेमें कसर नहीं की है। वे सब लोग मौका पायें, तो हमारे घरके हरेक आदमीको मार डालें। जैसे-तैसे बड़े ढबसे, यह तो चाचा बच रहे हैं; नहीं तो मौकेकी तलाशमें रहते हैं। चूकनेवाले नहीं हैं।

इन सब बातोंसे मैं बड़ा सशंक होकर रहता था। यह डालचन्द नामका आदमी कैसा है, कौन है, यह जानना चाहता था, फिर भी नहीं जानना चाहता था। वह मालूम कर ले, कि मैं इनका रिश्तेदार हूँ, तो मुझपर ही न हाथ साफ कर बैठे। माधोके देने न ऊधोके लेनेमें रहनेवाले, एक हँसमुख, मिठबोल, निरीह प्राणीको जब यह डालचन्द अपने साथियोंको लेकर लाठियोंसे कुचल-कुचलकर मार सका, तो उसके हाथसे और भी कुछ क्यों नहीं वैसा ही आसानीसे हो सकेगा, यह मेरे मनमें नहीं बैठता था। मैंने गाँवके पासके बागके किनारेकी जामुनके पेड़ों और कुछ झाड़ियोंसे ढकी हुई वह तिमिराच्छन्न जगह कई बार देखी और उसके साथ मिलान करके हर-हर बार उस डालचन्दकी काली घनी भयङ्करता भी अपने मनसे साकार बनाकर देख ली।

साथ ही कभी-कभी मैं यह सोचता था कि यदि एक ओरसे विश्वास और सचाईके साथ मैत्रीका हाथ बढ़ाया जाय, तो क्या यह दूसरी ओरकी बर्बरता उतनी ही क्रूर बनी रहेगी? क्या वह कुछ कम कठिन न होगी? और क्या यह अच्छा न होगा?

× × ×

गाँवमें रहते-रहते मुझे पन्द्रह-बीस दिन हो गये। जिन्दगीमें इतने दिनोंमें कोई नई बात ही सामने नहीं आई, जिसमें स्वाद मालूम होता। जैसा आजका दिन, वैसा ही कलका दिन, ठीक बिलकुल वैसे ही और सब दिन। मन लगानेको और बहलानेको यहाँ अदल-बदल कोई ज़रा भी नहीं मिली। एक-सा सपाट जीवन, कोई चढ़ाव-उतार

नहीं ।—मेरा इससे जी भर गया। जिसे मैं भूख समझता था, वह शायद भूख नहीं होगी। क्योंकि गाँवका स्वाद चखने-चखनेमें ही मैं तो अघा उठा था, अच्छी तरह चबाकर उसे भीतर डाल्नेका अवसर भी नहीं आने दिया। भूख होती, तो बिना इतना किये मिटती ?

खैर, तो मुझे उस समय बड़ा आराम मिला जब चाचाने कहा—चलो, आज एक दावत खाने चलना है।

मैंने कहा—कहाँ चलना है ?

उन्होंने कहा—पास ही एक गाँव है। दूर नहीं है। शहरकी दावतें देखी हैं, एक यह भी देखो।

बीस रोज़में एक तो चीज़ मिली, उसे भी छोड़ देता ?—मैं झटपट बिलकुल तैयार हो गया।

दावत क्या थी, विडम्बना थी। उन गुट्ठल-सी कचौरियोंको सामने लाकर कहा जाता--बाबूजी, यह और लीजिए, बड़ी करारी हैं, गरमागरम, तो जी होता, उठाकर फेंक दूँ। सागमें नमक है, तो मिर्च नहीं, और मसालोंका तो नाम न लीजिए। बस, दही-बूरा, दही-बूरा। ज्यौनार क्या थी, दही-बूरा था। वही सपोटे जाओ। और सचमुच लोग ऐसे सपट्टे मार रहे थे, कि सुड़्‌ड़सपकी आवाज़ दूरतक सुनाई पड़े।

एकने कहा--बाबूजीको दही देना, दही।

जिससे कहा गया, वह मेरे पास आया ही था, कि चिल्लाया—परसादी, ओ परसादी, वह बूरा उठाता ला।

मैं हठात् इस परसादी नामके आदमीको देखनेमें लग गया।

इधर दहीवाले आदमीने ढेर-सा दही पत्तलपर बिखेर दिया।

वह परसादी बूरा लेकर मेरी तरफ़ आया। काला चेहरा है, आँखें सुरुचि-पूर्ण नहीं हैं। बाल, अभी कटी दूबसे हैं, मूछें घनी-काली हैं।

मैंने कहा—मैं बूरा नहीं लूँगा।

परसादीने पस भरकर बूरा पत्तल पर डाल देनेका इरादा करते हुए कहा—बाबूजी, थोड़ा ले लीजिए।

मैंने पत्तलको दोनों बाँहोंसे ढँककर कहा—मैं नहीं लूँगा, नहीं लूँगा।

'बाबूजी, थोड़ा तो लेना ही होगा'—यह कहकर वह पस-भर बूरा उसने वहीं छोड़

दिया। उसमेंसे कुछ मेरे हाथोंपर आ रहा, कुछ जगह पाकर पत्तलमें जा गिरा और वह काला मुँह लेकर परसादी इसपर हँसने लगा।

इस परसादी नामक कुलक्षण व्यक्तिको क्यों एकाएक मेरे आतिथ्यके प्रति साग्रह हो उठना चाहिए, यह उस समय मेरे लिए बड़ी दुर्भावनाओंका विषय बन गया। कुछ देर बाद मैंने इसका भेद समझा कि मैंने इसका भेद समझ लिया।

इस सफेद पिरामिडके भीतर दबे हुए दही-सागरसे, इतने लोगोंके बीचमें बैठकर, मैं क्या करके अपना पिंड छुड़ाऊँ। इसको सोचकर कुछ निश्चय करूँ कि एक नाम पिघले सीसेकी तरह कानमें सनसनाता चला गया। किसीने कहा—चाचा डालचन्द, बाबूजी-को दही दिया है, एक कचौरी तो और दे जाना।

मैंने एकदम आँख ऊपर उठाकर देखा। डालचन्द ताज़ा कचौरियोंका डला लेकर हँसता हुआ मेरे सामने आया। गोरा-भरा चेहरा था, मजबूत हाथ-पाँव थे। बिलकुल गँवार नहीं मालूम होता था। आँखें हँस रही थीं, जाने क्यों हँस रही थीं।

आकर बोला – लो, बाबूजी, एक कचौरी तो मेरे हाथकी भी लो।

हाय राम, यह क्या हो रहा है! मैं कुछ बोल नहीं सका, हाथ पत्तलके ऊपर करके फैला दिये।

'बाबूजी, यह बात नहीं होगी'—उसने कहा—'एक तो लेनी ही पड़ेगी।'

और यह कहकर बड़ी तरकीबसे एक कचौरी उसने मेरी पत्तलके बीचों-बीच डाल ही दी।

अब मैं उस कचौरीको लेकर क्या करूँ? उसे उसी डालचंदके, बेहयाईसे हँसते, चेहरेपर फेंककर मार सकूँ, तो ठीक हो जाय; लेकिन इतने बड़े जनसमुदायसे घिर-कर—जो अब बड़े सम्मान और आग्रहके साथ मुझ शहरी सभ्यको ही देख रहा था—यह मुझसे किसी तरह भी नहीं बन सका। और मैं चुपचाप उस कचौरीको एक हाथसे चूर-चूर करके, उसकी एकाध किनकीको बूरेके ढेरसे छुआकर, मुँह चला-चला-कर खानेका दिखावा करने लगा।

जब पंगत उठी, तो इस भारी संकटसे मैं छूटा। राम-राम करके झटपट हाथ-वाथ धोकर, बाहर निकलकर, कब घर भाग जानेका मौका मिलेगा, यह सोच रहा था। लेकिन बाहर आता हूँ, तो देखता हूँ, द्वार रोके पानोंके थाल लिये लोगोंकी एक भीड़ खड़ी है।

मैं पास आया, तो सुना, किसीने कहा – चाचा डालचंद, बाबूजीको पान दो।

मुड़कर देखा, तो कहनेवाला है – परसादी।

डालचंदने एक बड़ा-सा बीड़ा देखकर, थालीमेंसे उठाकर, हँसते हुए मेरे सामने कर दिया।

झटपट उसे लेते हुए मैं दरवाजेसे बाहर हो गया।

पान फेंक देनेकी कहीं सुविधा मुझे नहीं मिल रही थी ; इसलिए उपयुक्त अव-सर और स्थानकी प्रतीक्षामें मैं पानके बीड़ेको हाथमें ही लिये था, कि चांचाने कहा—ज़रा रूमाल देना।

मैं बायें हाथसे बायीं तरफकी जेब टटोलने लगा। लेकिन रुमाल था कोटके दायीं तरफके अन्दर जेबमें।

चाचाने कहा--निकाला ?

बायें हाथसे उस जेबमेंसे रुमाल निकालनेमें कठिनता हो रही थी। मैंने झट उस हाथको खींचकर, उसमें पान लेकर, दाहिना हाथ जेबकी तरफ बढ़ाना चाहा।

इसी समय—'अरे अभीतक रुमाल नहीं निकला !'—कहते हुए उन्होंने मेरी ओर मुड़कर मेरी संकटापन्न अवस्थाको देख लिया। पूछा—'अरे, हाथमें यह क्या है, पान है ! रख क्यों छोड़ा है, खा क्यों नहीं लेता ?'

मैंने कहा – मैं खाता नहीं हूँ पान।

'एँ, खाता नहीं है !'—उन्होंने कहा--'खा-खूकर खतम कर। क्या तमाशा बना छोड़ा है।'—यह कहकर जैसे वह मेरे हाथसे लेकर पान मेरे मुँहमें देनेको हो गये।

तब मैंने स्वयं उसे मुँहमें ले लिया। चबाना शुरू करना था, कि झट थूक डाल-नेके लिए मुझे कहीं दौड़कर अलग जाना पड़ गया। हलकतकसे सारा थूक मैंने बड़े जोरके साथ खखार-खखारकर निकाल दिया और पासके पेड़की छाँहमें पड़ी एक चार-पाईपर लेट गया।

सिर चकरा रहा था। बदनमें सनसनाहट-सी फैल रही थी। जीमें उबकाई आ रही थी और धरती-आसमान झूलने लग गया था। सब कुछ जैसे मुझे बीचमें करके मेरे चारों ओर चकराने लगा।

अब जैसे सब कुछ ठीक-ठीक समझमें आने लगा। सिरमें रुई धुनी जा रही थी, फिर भी विचारोंमें अद्भुत संगति थी। पागल हो जाने-जैसी कोई भी बात नहीं थी। हरेक बातका कार्य-कारण और परिणाम-सम्बन्ध ठीक मिला करके बैठा सकता था।

संशय नहीं रहा, कि कूचका वक्त अब आया, अब आया। महायात्राके लिए प्रस्थान करनेसे पहले जहाँ बैठे हैं, वहाँसे कैसे बिदा लेनी चाहिए, यह प्रश्न अपनी स्पष्टतामें सामने आ गया। मैं उसीको निश्चित करनेमें लगा और इधर-उधरकी बात कोई भी मुझे तंग करने नहीं आई। घबड़ाहट कुछ नहीं थी, जल्दी बिलकुल नहीं थी। ज़हर है, क्या है ; संभव हो सकता है कि भूलसे कहीं कुछ कम ज़हरीला रह गया हो ; उपायकी सम्भावना हो सकती है, कम-से-कम वैसी चेष्टा आवश्यक है--आदि-आदि विचार मुझे अस्थिर नहीं कर पाये। जाना है, सो किस तरह खूबीके साथ जाया जाय, यही एक विचार मुझे वशमें किये था। मेरे चुपचाप उठ जानेकी बात क्रमशः माता-पिता, बहन-भाईको मालूम हो ही जायगी, इसकी चिन्ता करनेकी आवश्यकता नहीं है। उनके जीमें एक कसकता हुआ अभाव रह जायगा—इसका हलका-सा आभास हृदयमें क्षणभरको उदित हुआ ; किन्तु फिर वह विलापका रूप धारण करेगा, कैसा दारुण-विलाप मचेगा--इन सब सम्भावनाओंपर जाकर फिरनेका अवकाश मेरे विचारको नहीं मिला। बस, इसी एक प्रश्नको केन्द्र बनाकर मेरी समग्र मानवीय चेतनता उसके चारों ओर, सुलझानेके यत्नमें परिक्रमा करती हुई घूमने लगी, कि किस प्रकार अपनी बिदाको सुन्दर बनाकर यहाँसे अपनेको मैं मुक्त करूँ।

सोचा—क्या यह नहीं हो सकता, कि यह सब आपसी वैर-भावको मेरी लाशके ऊपर मिलकर आँखोंकी राह बहा दें और परमात्माके दो सगे पुत्रोंकी भाँति हिल-मिलकर रहें। मुझ मरते हुएकी तरफ़ देखकर क्या यह लोग मेरी अन्तिम अभिलाषा को मान लेनेके लिए विवश नहीं हो जायँगे ? मरते-मरते मैं अगर एकके हाथोंको दूसरे के हाथों में देकर दोनोंके आँसू अपने ऊपर ढलवा सका, तो मैं फिर बड़ी सुख-शान्तिके साथ आँख मींच लूँगा। मृत्यु फिर मेरे लिए बड़ी सुन्दर हो जायगी। समझूँगा, जीवन इस मौतमें आकर सार्थक हो गया। उस सुखद दृश्यको उत्पन्न करके फिर उसे इस धरतीपर अपने पीछे चिरन्तन-रूपमें जीवित रहनेके लिए आँख मींचकर, चुपचाप चल देनेके लिए मुझे क्या दर्द शेष रह जायगा। मैं फिर मानो अमर होकर अपने सृष्ट किये हुए इसी स्वर्गदृश्यके लोकमें रहनेके लिए चला जाऊँगा।

मनकी वैसी विमल शान्ति और स्थिरता (Equipoise) उसके पहले और उसके बाद मैंने फिर कभी अनुभव नहीं की।

लेकिन बदन मानो ऐंठ रहा था। ऐसी कुछ मिचलाहट जीमें मच रही थी, कि जैसे अँतड़ियाँ भीतरसे उबककर, बाहर होकर, एक-एक करके बिखर जाना चाहती हैं।

एक आदमी उधरसे जा रहा था। सहसा मुझे वहाँ पड़ा देखकर मेरे पास आया और विस्मित प्रश्नवाचक दृष्टिसे मेरी ओर देखने लगा। बहुत साहस करके उसने पूछा—क्या हुआ ?

मैंने जैसे-तैसे, संकेतसे कुछ बोलकर उसे यह समझा दिया कि चाचाको तुरन्त यहाँ आना चाहिए।

लगभग तुरन्त चाचा वहाँ आ गये। पूछने लगे—क्यों, क्या हुआ !

उस समय मेरे दिलमें एक साथ कैसो विनीत याचना और कैसे दृढ़ विश्वासके भावका उदय हो आया था, वह सब कुछ मेरी आँखोंमें आ रहा होगा। मैंने वाणीको बिलकुल स्थिर बनानेकी चेष्टा करते हुए कहा—हुआ कुछ नहीं है। जरा जी मिच-लाता है।—फिर लेटे-लेटे, बराबरकी खाटपर बैठे और हैरान होकर मुझे देखते हुए चाचाके चेहरेपर अपनी उस समयकी आँखोंको भरपूर जमाकर और उनके दोनों हाथ अपने हाथोंमें लेकर मैं उनको देखता रह गया।

चाचाने घबड़ाकर कहा—ऐसा क्या हुआ है ?

मैं फिर आँख नीची करके रोने लगा।

चाचाने अपने हाथोंको उसी तरह मेरे हाथोंमें रहने दिया और वह मेरी ओर देखने लगे।

मैं उन्हें किस तरहसे कहूँ, कि मैं यहाँ कुछ मिनटोंके लिए और हूँ। और उन मिनटोंमें वह जल्दी करके इस भतीजेको प्यार कर लें और डालचंद आदिको बुला दें; क्योंकि उनका भतीजा इन मिनटोंमें यहाँकी धरतीको स्वर्ग बनाकर चल देना चाहता है। ज्यादा समय उसके पास नहीं है।

मैं उनके दोनों हाथोंको मींज-मींजकर कभी अपने गालके नीचे करके और कभी आँखोंके पास फेरकर खूब रोने लगा।

उन्होंने कहा—अरे, बात क्या है, क्या बात है ? कुछ कह भी।

मैं कह क्या पाता ? सिसक-सिसककर रह जाता।

कुछ देर बाद चाचाने मानो अपने आपसे कहा—'ठहरो, डालचंदसे जाकर कहता हूँ। अभी साइकिलपर चढ़कर शहरसे डाक्टरको बुलाकर लाये। लड़का रो क्यों रहा है, जाने क्या हो गया है।

फिर वह तेजीसे उठकर अन्दरको चले गये।

हाय! चाचा, तुम डालचंदको कहीं मत भेजो और डाक्टरको मत बुलाओ। कुछ फायदा नहीं है। और तुम सब लोग यहाँ आओ। मेरी एक बात सुनो। मैं बहुत बात नहीं करूँगा, बस, वह...मान लेना। मैं सुखी हो जाऊँगा और तुम्हारा अहसान मानूँगा। और चला जाऊँगा।

चाचाके लौटनेपर यह सब बातें उन्हें समझा दूँगा। और बड़ी अच्छी बात होगी कि डालचंद भी उनके साथ होंगे। वह मेरी बात अवश्य मान लेंगे। मरते हुए के जीकी एक बात नहीं मानेंगे? वह जरूर मान लेंगे। बस।

इतना कहकर प्रमोद चुप हो रहा। हम सब भी चुप बैठे थे। चुप बैठे-बैठे एक-दो-तीन मिनट हो गये। चौथा बीतने लग गया। यह प्रमोद क्यों यों चुप होकर कुर्सीपर आ बैठा है। फिर क्या हुआ, कहता क्यों नहीं। हारकर इस सन्नाटेको तोड़कर प्रेमकृष्णने कहा—फिर?

प्रमोदने कहा—फिर क्या, बस।

प्रेमकृष्णने झल्लाकर कहा—अरे तो फिर क्या हुआ? लौटकर आये, डाक्टर आये, फिर कैसे क्या हुआ!

प्रमोदने हँसकर कहा—बस, कहानी खतम हो गई। होना-जाना क्या था।

प्रेमकृष्णने और भी खीझकर कहा—तो तुम यहाँ कैसे बैठे हो? ठीक बताओ, क्या हुआ, तुम कैसे बच गये?

प्रमोदने कहा—बच कहाँ गया, मर गया। मरकर फिर जी गया और अब यहाँ आ गया हूँ।

प्रेमकृष्णने कहा—क्या फ़जूल बकते हो जी। ठीक बताओ, फिर क्या हुआ, क्या नहीं। फिर तुम बच कैसे गये। बड़ा होशियार डाक्टर होगा, या उस डालचंदको ज़हर देना नहीं आया होगा।

प्रमोदने कुछ और झिझककर कहा—अच्छा, बता ही दूँ?

सबने बताये जानेकी इच्छा प्रकट की।

प्रमोदने कहा—वहाँसे बच गया, तो यहाँ तो आप लोग मुझे नहीं मारने लगेंगे?

हम सब लोग हँस पड़े। पर हँसीमें उसने बात उड़ नहीं जाने दी। उसने सबसे वचन लेकर ही छोड़ा। कहा—एक बार मौतमें पड़कर अब बार-बार मरनेकी इच्छा नहीं रह गई है। इसलिए खूब सोच-समझकर चलना चाहता हूँ।

सबसे वादे लेकर और सब कुछ पक्का करके उसने कहा—चाचा डालचंद वगैरह कई आदमियोंके साथ लौटकर आये। उन्होंने कहा—उठो, चलो।

पानमें ज़रा-सी तम्बाकू पड़ गई थी। घर चलने-भरमें तबीयत ठीक हो जायगी।

मैं उठकर चल दिया।

प्रमोदके बजाय हम सबने अपने सामनेकी मेज़को खूब ज़ोर-ज़ोरसे पीटना शुरू कर दिया।

———

जनता

१२

बाबा भगीरथजी विचित्र पुरुष हैं। मनमें आया, वैसे ही रहते हैं। अपनेसे बाहर भी कुछ है, जिसका असर व्यक्तिपर होना चाहिए, इसकी सूचना मानो उन्हें प्राप्त नहीं है। समाज अगर कुछ है, तो ठीक है, हो; सरकार अगर कुछ है, तो अवश्य हो; किन्तु इस कारण उनके मनको जैसा अच्छा लगेगा, वैसे वह क्यों न रहेंगे। हाँ, उनसे किसीको कष्ट न हो, इसका पता वह रखेंगे। यही क्यों, उनसे भरसक सबको आराम पहुँचे, इसका भी खयाल वह रखेंगे। और, बस। इसके आगे उनके नज़दीक दुनिया जैसी है, वैसी ही नहीं है।

मैं कहता हूँ, यह ठीक नहीं है। दुनिया है, और इसमें निभकर चलना पहली बात है। इससे बाहर जाकर तो गुज़ारा नहीं। इससे अगर विद्रोह भी करना हो, तो उससे मिलकर ही हो सकेगा। दुनियासे अजीब, अलग, रूठे हुए बननेसे काम नहीं चलेगा। कुछ लोग हैं, जो डाढ़ी रखते हैं, और कुछ लोग हैं, जो डाढ़ी नहीं रखते। अपना तरीक़ा तरीका है। जो डाढ़ी रखते हैं, वे रखनेके तरीकेसे रखते हैं। उन्हें मालूम होता है कि यह डाढ़ी है, कोई झाड़ी नहीं है, जिसके न कुछ अर्थ हैं, न प्रयोजन। और, डाढ़ी नहीं रखते, तो शेव किया कीजिए। और, कपड़ोंमें पतलून है, पाजामा है, धोती है, कुर्ता, कमीज़, कोट, वास्कट हैं। अब, न डाढ़ी रखना, न न रखना, और कपड़ोंमें ऊपर गिनाई सब चीज़ोंको छोड़कर कोई अपनी ही ईजाद करके पहनना, और सोलहमें पंद्रह आने उघारे बदन ही रहना - मैं कहता हूँ, यह भी कुछ समझदारी है? लेकिन बाबा भगीरथपर किसीका बस चले, तो बाबा भगीरथ कैसे।

मैंने एक दिन कहा—देखिए बाबाजी! आदमी जो समझता है, ठीक है, उसे फिर उसके साथ कसकर देखना होगा, जिसे दुनिया समझती है, ठीक है। उनके

समन्वयसे जो मिले, वही तो व्यक्तिका मार्ग है। क्योंकि आदमी अपनेमें पूरा कहाँ है? पूर्ण होनेके लिए उसे समाजकी अपेक्षा नहीं है क्या?

बात यह है कि मैं अपने मनके ऊपरसे बाबाजीको टालना चाहता हूँ। मन उनपर जाकर कुछ सुख नहीं पाता। उसमें कुछ विद्रोह, एक बेचैनी-सी होती है। बाबाको देखकर जीमें होता है कि तेरी प्रतिष्ठा, तेरी दुनियादारी, तेरी कामयाबी जूठी है, झूठ है, छल है। चाहता हूँ, बाबापर दया कर डालूँ, और इस तरह अपने बड़प्पनको स्थिर रखूँ, सँभाले रखूँ,। पर यह होते होता नहीं। बाबाको सामने पाकर बड़प्पन हठात् मुझपरसे खिसकने लगता है, उतरकर जैसे मुझे छोड़ जानेको उतारू हो जाता है। तब उस बाबा और उसकी सारी फ़िलासफ़ीपर मुझे बड़ा गुस्सा आता है। लेकिन कभी वह साढ़े तीन सौ मासिक पाता था, मेरा सीनियर था, गण्य-मान्य था। और, आज है कि मैं चार सौ पाता हूँ और उसे ठौरका ठिकाना नहीं है, और मित्रोंका कृपानुजीवी ही, समझिए, बनकर उसे रहना होता है। मैं उसे पागल कह सकूँ, वैरागी कह सकूँ, साधु-संन्यासी कह सकूँ, तो मुझे चैन पड़ जाय। क्योंकि समाजकी रीति-नीतिमें इन लोगोंके लिए जगह है, समाज इन्हें पहचान सकता है। कहा, पागल है, और चलो छुट्टी हुई। इस बाबासे, लेकिन इस तरहकी छुट्टी मुझे किसी भाँति नहीं मिलती। और, वह सदा इतना खुश और इतना पक्का और इतना ताज़ा रहता है कि मन-मनमें मैं कितना ही झुँझलाऊँ, उसके प्रति एक प्रकारकी श्रद्धासे भी मुझसे बचा नहीं जाता।

बाबाने कहा—देखो भाई, समाजसे मैं इनकार नहीं करता। जिसको मैं सही कहूँ, मन हो, तो क्यों न समाज उसे गलत माने। स्वतंत्रता चाहनेवाला मैं समाजको तो और भी स्वतंत्रता दूँगा। मैं तो कहता हूँ, जिसको मैं अपने लिए सही समझूँ, उसीको समाज मेरे लिए निषिद्ध ठहरा सकता है। मैं यदि अपने समर्थनमें उसका विरोध करूँ, तो उसका धर्म है कि अपने समर्थनमें वह मेरा विरोध करे। यहाँतक कि मैं चुप हो जाऊँ, नहीं तो मिट जाऊँ। समाजने ईसाको सूली चढ़ाकर समाज-धर्मकी प्रतिष्ठा ही की। किन्तु ईसाको यदि ईसा बनना था, तो सूलीपर भी चढ़ना था। समाजको समाज रहनेके लिए, उसी तरह, ईसाको, जो ईसा बने बिना मानता न था, सूली दिये बिना न रहना था। सूली चढ़नेवाला ईसा समाजके इस दायित्वको जानता था। इसीसे अपने कंधों सलीब लेकर वह वधस्थल गया। कोई अड़चन उसने वधिकोंके काममें नहीं उपस्थित की। अब, मैं वह कहता हूँ कि अपने ऊपर समाजको पूर्ण स्वतंत्रता

देकर क्या अपनी नियतिको अपने ही रूपमें संपन्न करनेका अधिकार ईसाको नहीं हो जाता ? समाजके हाथों जब वह खुशीसे सूली चढ़नेको उद्यत है, तब ईसा ईसा बने बिना किस भाँति रह सकता है ? इसलिए व्यक्ति अपने लिए, समाजकी ओर नहीं भी देख सकता है, बल्कि नहीं देखना चाहिए, अगर उसमें समाजके दंडसे बचनेकी इच्छा नहीं है, और वह समाजका हितैषी ही बना रहकर उसके दण्डका स्वागत कर सकता है। अगर दुनिया मुझे पागल कहेगी तब भी मैं उसका बुरा न सोचूँगा, मुझे पीड़ा देगी, तब भी उसकी कल्याण-कामना करूँगा—यह माननेके बाद क्या अपने मुताबिक चलनेका हक़ मेरा न मानोगे ?

देखा आपने ! यह बाबा भगीरथ हैं। इस बाबा भगीरथको, आप समझते हैं, कभी जीवनमें आराम मिल सकेगा, सफलता मिल सकेगी ? क्या नहीं समझते कि उमर-भर उसे मोहताज और आवारा ही रहना होगा ?

और आइए, मैं आपको सुनाऊँ, बाबाके बाबापनका एक रोज क्या गुल खिला। किस्मत समझिए कि बाबा मौतसे बाल-बाल बच गया, नहीं तो विधनाकी ओरसे तो तैयारीमें कमी रखी गई न थी।

और आप जानते हैं, क्या ? उसके बाद भी बाबाको होश नहीं हुआ है, और वह वही है।

× × ×

मास्टर दीनानाथजीकी ग्यारह बरसकी लड़की सुखदाको पाँच-छह रोजसे उनके घर आये बाबा भगीरथजीसे एक भेदकी खबर मिली है, जिसने उसके चित्तको विभ्रममें डाल दिया है। बाबाने उसे बताया है कि रामजीने उसे एक जामनके पेड़के नीचे डाल दिया था। वहाँ वह कीं-कीं-कीं खूब रो रही थी। दया करके बाबाने वहाँसे उसे उठा लिया, और यहाँ आकर फिर उसकी माको पालनेको दे दिया। समझी कि नहीं ? चाहे तो अपनी मासे पूछ ले कि तू कहाँसे आई थी। बाबा ही दे गया था कि नहीं।

लड़कीने कहा – "नहीं, नहीं, नहीं। झूठ, बिलकुल झूठ।"

और तभी वह सोचने लगी कि जामनके पेड़तले पड़ी वह नन्हीं-सी कैसी लगती होगी।

भगीरथजीने कहा—इसमें क्या बात है। जाकर अपनी मासे न पूछ आओ।

मासे पूछा, तो उसने भी बता दिया कि हाँ, ठीक तो है, पेड़के नीचे ही तो भगीरथजीने उसे पाया था।

लड़कीने आँख फाड़कर पूछा – अच्छा!

माने पूछा—तो तू बाबाजीके संग जायगी?

बेटीने कहा—"हाँ, बाबाजीके संग जाऊँगी। तू तो मुझे मारती है।"

इस तरह, और जाने किस-किस तरह, बालकोंको रिझा और हिला लेनेमें भगी-रथजी-सा दूसरा आदमी न होगा। सुखदा बाबूजी और माको भूलकर सदा बाबाजीके ही सिर चढ़ी रहती है। या उसके सिर कहो 'बाबाजी' चढ़े रहते हैं।

मास्टर दीनानाथजीसे उन्होंने कहा—देखो मास्टरजी, यह इस्कूल-बिस्कूल ग़लत बात है। जबतक हम रहें, लड़की किसी स्कूलमें पढ़ने नहीं जायगी। और सबसे बड़ी शिक्षा खुली हवामें घुमाना है। आप छोड़िए सुखदाको मेरे ऊपर। अभी तो एक महीने मैं यहाँ हूँ।

सो, लड़की अब स्कूल नहीं जाती, सुबह-दोपहर-शाम जाने कहाँ-कहाँ बाबाजीके साथ नई-नई चीज़ें देखने जाती है। एक-दो घंटे बाबाजी ही उसे पढ़ा भी देते हैं।

जाड़ोंके दिन थे। दस बजे होंगे। मीठी-मीठी धूप फैली थी। और निकल्सन बागमें घासपर बैठे बाबा भगीरथजी और सुखदाजी बातें कर रहे थे। और, उस बाग़के बाहर भी दो-तीन आदमी घूम रहे थे।

यहाँ एक बात खयाल रखनी चाहिए। सुखदा सुन्दर है, गोरी है, देखनेसे ही अच्छे घरकी मालूम होती है। अच्छी, साफ़ साड़ी है, पैरोंमें बढ़िया चप्पल। भगी-रथजी नंगे पैर हैं, जिनमें बिवाइयाँ फट रही हैं, उघारे बदन, बस, एक मटमैले रंगका जाँघिया है। छह महीनेकी डाढ़ी है। रंग धूपसे पका ताँबिया।

सुखदाने पूछा – बाबाजी, यह चौराहोंपर आदमी क्यों खड़े रहते हैं?

"अच्छा, बताओ, इस चौराहेपर जो खड़ा था, कौन था?"

लड़कीने बताया—सिपाही।

भगीरथजीने कहा—हाँ, सिपाही है। जानती हो, क्यों रहता है? आते-जाते ताँगे-मोटरोंको वह रास्ता बताता है, नहीं तो वे लड़ जायँ। इनका नाम पुलिस है। ये पुलिसके सिपाही हैं। इनसे डरना नहीं चाहिए। समझीं? ये लोगोंको मदद देनेके लिए हैं। तुम डरतीं तो नहीं?

"नहीं।"

"हाँ, डरना कभी नहीं चाहिए। अच्छा, धोती यहीं उतार जाओ। जाँघिया तो है न? जाओ, जितनी तरहकी कल घास बताई थी, ढूँढ़कर उनके नमूने लाओ तो।"

लड़की चली गई। इतनेमें एक आदमी आया। आकर पूछने लगा—आप कहाँ रहते हैं?

"हम कहाँ रहते हैं? यहीं रहते हैं।"

"यहीं क्या, देहलीमें? किस मुहल्लेमें?"

बाबाजीने कहा—क्यों, तुमको मेरे मुहल्लेसे खास काम है?

आदमीने कहा--हिन्दू हो या मुसल्मान?

बाबाजीको यह बड़ा विचित्र लगा। कहा—भाई, हम जो हैं, हैं। जहाँ रहते हैं, रहते हैं। तुम जाओ, अपना काम देखो।

इतनेमें लड़की आ गई, और एक अजनबीको देखकर मनमारी वहाँ बैठ गई। बाबाजीने पूछा—क्यों, बेटी?

आदमीने पूछा—यह लड़की कौन है?

बाबाजीको इस आदमीका यह सवाल बहुत बुरा मालूम हुआ। कहा—तुमको इससे मतलब? जाओ, अपना रास्ता देखो।

आदमी चला गया, और लड़कीने घास दिखानी शुरू की।

इतनेमें एक आदमी और आया, बोला—आप कितनी देरतक यहाँ बैठेंगे?

"हमारी तबीयत।"

"मैं पूछता हूँ, घंटे, दो घंटे, आखिर कितनी देरतक आप यहाँ हैं?"

"तुम सुनते नहीं हो?" बाबाजीने कहा—हमारी तबीयत है, जबतक हम यहाँ हैं।

आदमीने कहा—अच्छी बात है। और वह चला गया।

बाबाजीके मनपर किसी तरहकी कोई जूँ नहीं रेंगी। और, देखा गया, बगीचेके बाहर टहलते हुए आदमियोंकी संख्या दो-तीनसे छह-सात हो गई है। उसमें एक बावर्दी पुलिसका सिपाही भी है।

लड़कीका उत्साह अकारण मंद पड़ने लगा, और उसका जी बैठने लगा।

बाबाजीने कहा—देखो सुकी, मैंने छह तरहकी घास तुम्हें बताई थी, और छहों इस बगीचेमें हैं। तुम लाईं चार ही।

लड़कीने कहा—बाबाजी, घर चलो ।

"क्यों ?" बाबाजीकी समझमें जैसे यह बात बिलकुल नहीं आई ।

"नहीं, हम तो घर चलेंगे ।"

"अच्छी बात है, चलो ।"

दोनों उठकर चले ।

*   *   *

बग़ीचेसे बाहर निकले, तो वे छहों-सातों आदमी भी पीछे-पीछे चले । अब बाबाजीने जाना कि दालमें कुछ काला है । पर उन्हें आशंकासे अधिक कुतूहल हुआ, और वे दोनों चुपचाप चलते रहे ।

फ़र्लांग-भर गये होंगे कि पचास-साठ आदमी हो गये । एक बावर्दी घुड़सवार भी साथ दिखाई देने लगा । सब अपने-अपने अनुमानोंसे भरे थे । और पुलिसके लिए शीघ्र एक यह काम भी हो गया कि जनताके भरे सदस्योंको मर्यादासे आगे बढ़नेसे थामे रहे ।

"ज़रूर मुसलमान गुंडा है । बाबा बनकर लड़कियाँ भगाता है, बदमाश !"

"लड़की किसकी है ?"

"देखते रहो, कहाँ जाता है ?"

"देखना, निकल न जाय ।"

"बदमाश आज पकड़ा गया ।"

पुलिसने कहा—पीछे रहो, पीछे रहो ।

खुशीसे भरी जनता घुड़सवार पुलिसमैनके पीछे बाढ़-सी बढ़ती और उमड़ती हुई चलने लगी ।

"क्या है ? क्या है ?"

"देखते नहीं, सामने क्या है ?"

"ओह, यह ! पाजी—"

कृतार्थ होकर अत्यंत उत्साहके साथ पूछनेवाला भी भीड़के साथ हो लिया ।

"अपना नाम इसने मौलाबख्श बताया है, पर असली ज़ैनुद्दीन यही है ।"

"ज़ैनुद्दीन !"

"सौ-सौके छह नोट इसके जाँघियेकी जेबमें मिले हैं ।"

"अब ले जाकर लड़की बेच देता। अजी इनका गिरोह है, गिरोह।"

"मुसल्मान क्यों बढ़ रहे हैं? इसीसे तो।"

"कौन कहता है, लड़की मुसल्मान-खानदानकी है, और यह शख्स हिन्दू गुंडा है?"

"झूठ। मुसल्मान है।"

"हरगिज़ नहीं। काफ़िर है।"

"वह ज़िंदा क्यों है?"

'तुम झूठे हो।"

"तुम नालायक़ हो।"

"कोई मर्द नहीं है, जो यहीं उसे करनीका मज़ा चखाये।"

पुलिस – "पीछे रहो, पीछे रहो।"

भीड़ बढ़ती ही चली गई। हिंदू भी थे, मुसल्मान भी। इसमें दो रायें न थीं कि यह शख्स ज़िंदा न बचने पाये। और, सबको यह बुरा मालूम हो रहा था कि यह पुलिस कौन चीज़ है, जो सामने आकर उनके और उस बदमाशके बीच, यानी इन्साफ और जुर्मके बीच, हायल है।

रेलका पुल आते-आते तीन-चार हज़ार आदमी हो गये होंगे। जैसे समंदरके बीचमें बूँद बूँद नहीं होती, वैसे ही भीड़में आदमी आदमी नहीं रहता। भीड़का अपनेमें एक अस्तित्व है, एक व्यक्तित्व है। वह अतर्क्य है।

"सीधे चलो, सीधे चलो!"

"कोतवाली! कोतवाली!"

लड़की सहमी-सहमी चल रही थी। उसने ज़ोरसे भगीरथजीका हाथ पकड़ रखा था। उसकी समझमें न आता था, यह क्या है। एक निश्शब्द त्रास उसके मनपर छा रहा था, और बाबाजीको भी बोध हो रहा था कि परिस्थिति साधारण नहीं रह गई है। लोगोंकी भीरुता और मूर्खतापर उन्हें बड़ी झुँझलाहट हो रही थी।

घुड़सवारने आगे बढ़कर बाबासे पूछा—तुम कहाँ जा रहे हो?

"आप देख तो रहे हैं, मैं जहाँ जा रहा हूँ।"

"किस मुहल्लेमें रहते हो?"

"जिसमें रहता हूँ, वहीं तो जा रहा हूँ।"

" मैं घर जाऊँगी बाबाजी, घर । "

पुलके आगे उनका रास्ता मुड़ता था । मुड़ने लगे, तभी घुड़सवारने उनके सामने आकर कहा—सीधे चलना होगा ।

यह बाबाके लिए अप्रत्याशित था । पूछा—" कहाँ ?"

" कोतवाली । "

" क्यों ? "

" मैं कहता हूँ, इसलिए । "

" आप कहते हैं, इसलिए ? या भीड़ कहती है, इसलिए ? "

सवारने उत्तर न दिया । वह लौट गया, और उसने समझ लिया, यह आदमी वैसा नहीं है जैसा ख़याल है ।

दोनों चुपचाप सीधे कोतवालीकी तरफ़ बढ़ चले ।

जुलूस पीछे-पीछे आ रहा था । बात अबतक दूर-दूर फैल गई थी । अब चौकसे भी जुलूसको गुजरना हुआ । पाँचसे दस, पंद्रह, बीस हज़ार तक भीड़ पहुँच गई । टेलीफोनसे पुलिसके कई दस्ते आ गये थे । पर भीड़को शान्त रखना मुश्किल हो रहा था । शोर बेहद था, और उसमें अब पक्ष भी पड़ने लगे थे । मुसलिम-पक्ष और हिन्दू-पक्ष ।

परिस्थिति भीषण होती जा रही थी, और लड़कीके कारण बाबाजीको चिन्ता होने लगी थी । पर मालूम होता था, बात अब वशसे बाहर हो गई है । क्या कोई मेरी बात सुनने योग्य इस जनस्थितिमें होगा ?

" अरे, यह लड़की तो दीनानाथकी है ! "

" दीनानाथ ! हेडमास्टर दीनानाथ ? "

" ओह, दीनानाथकी ? "

चुटकी बजाते बात फैल गई कि दीनानाथकी लड़कीको एक मुसलमान गुंडा उड़ा-कर ले आया है । हिन्दू-पक्षके क्रोधकी सीमा न रही, और मुस्लिम-पक्षका उत्साह तनिक मंद हो गया । तब दो-एक मुसलमानोंको सूझा कि पुलिससे कहें कि मामलेकी जाँच भी पहले की या नहीं ।

दो-एक शरीफ़ मुसलमान उस समय पुलिस-इन्स्पेक्टरके पास गये । तभी बाबाजीने इन्स्पेक्टरके पास पहुँचकर कहा—"आप यह क्या ग़ज़ब कर रहे हैं ? आप क्या चाहते

हैं ? आखिर इस बेचारी लड़कीको तो बापके पास जाने दीजिए। पता मैं बताता हूँ, सिपाहीके साथ लड़कीको घर भेज दीजिए। मैं आपके सामने ही हूँ।

मुसलमान सज्जनोंने कहा—जी हाँ, कोतवाल साहब, यह शरीफ़ आदमी मालूम होते हैं, पता तो लीजिए कि बात क्या है।

पुलिस भीड़मेंसे उन्हें एक खाली दुकानकी तरफ़ ले गई। वहाँ बाबाजीने मकानका पता दिया। और तय हुआ कि एक सिपाही वहाँ जाय, और मालूम करके आवे, तबतक दोनों यहीं रहें।

इस बीच बात आगकी तरह फैलती रही। महाबीर-दल, अर्जुन-सेना, भीम-सेना-संगठन, हिन्दू-रक्षा-सभा और अखाड़ा बजरंगबली आदि सदल-बल मौकेपर आ गये। इधर हुसैन-ग्रोल और रफ़ीक़ाने-इस्लाम तथा रज़ाकाराने-दीन भी चौकन्ने-चौकस हो गये।

इधर दीनानाथजी चार मित्रोंके साथ भोजन कर रहे थे। दीनानाथजीकी लड़की भगा ली गई हैं; यह इस सभासे उस सभातक सबको मालूम हो गया था। दीनानाथको ही बतलानेकी, या उनसे पूछनेकी, ज़रूरत किसीको नहीं हुई थी। वह निश्चिन्त, प्रसन्न भोजन कर रहे थे, तभी नौकरने खबर दी—बाबूजी, एक सिपाही आपको पूछ रहा है।

"क्या चाहता है ?"

"पूछता है, आपकी कोई लड़की है।"

"अबे, है, तो उससे उसे क्या है ?"

"कहता है, ज़रूरी कामसे दारोग़ा साहबने फौरन आपको बुलाया है।"

"कह दो, मुझे फुर्सत नहीं है।"

नौकर गया, और फिर लौटकर उसने खबर दी—

"जी, वह तो जाता नहीं। कहता है, आपकी लड़की वहाँ है, और आपका वहाँ चलना बहुत ज़रूरी है।"

"होने दो लड़की वहाँ। मैं अभी नहीं जा सकता। और, वह आदमी अभी नहीं जाना चाहता, तो उसे खड़ा रहने दो वहीं।"

नौकर गया, और दोस्तोंमें फिर ठट्ठा होने लगा।

"देखा! यह पुलिस है! कोई गुलाम बैठा है कि फौरन हुक्मपर दौड़ा जाय!"

"आखिर लड़की कहाँ है ?"

"होती कहाँ ? भगीरथजीके साथ है। फिर उनके साथ कहीं भी हो, फिक्र क्या है ?"

उधर जनतामें न्यायकी भूख और हिंसाकी प्यास खूब बढ़ रही थी। चौकमें एक दुकानके भीतर बेंचपर भगीरथजी बैठे थे; उनसे चिपटी-सिमटी सुखदा, कुर्सीपर इंस्पेक्टर थे, आस-पास सिपाही। और चौककी चौड़ी सड़क एक फर्लाङ्गतक नर-मुण्डोंसे पटी थी। जो सिपाही भेजा गया था, उसके लौटनेकी प्रतीक्षा की जा रही थी। न्याय रुका हुआ था, जनता खाली थी, और उसका मद उत्तरोत्तर बढ़ रहा था। बातचीतसे दारोग़ाजीको मालूम हो गया था कि यह बाबा शरीफ आदमी है। लेकिन इस भूखी-मतवाली जनताके बीचमें अब इस बाबाको आज़ाद छोड़ना जानवरोंके बीचमें छोड़ना है, फिर उसकी बोटी बाक़ी न बचेगी।

सिपाहीने आकर खबर दी कि मास्टर दीनानाथने उसे घरसे बेइज्ज़त करके निकाल दिया है, और कुछ जवाब नहीं दिया।

इसपर तय हुआ कि दोनोंको कोतवाली ले चलना होगा। लेकिन पैदल ले चलना ख़तरेसे खाली न था, इससे ताँगा मँगवाया गया। ताँगा चला और भीड़ भी चली।

"देखा! पुलिसको चकमा देता था!"

"अब जायगा कहाँ ?"

"अब तो यहीं इसको बहिश्त दिखाई देगी!"

दारोग़ा ताँगेमें आगे बैठे थे, लड़कीके साथ बाबा पीछे। उस वक्त लड़के बाबापर कंकड़ियाँ फेंक रहे थे, लोग बेंत चुभो रहे थे, कभी-कभी जूते भी पास आ गिरते थे, और लड़की बाबाकी गोदमें दुबकी जा रही थी।

ज्यों-त्यों दोनों कोतवालीके अंदर ले जाये गये, और भीड़ बाहर तैनात हो गई।

शहर-भरमें सनसनी फैल गई थी। दल-के-दल कोतवालीके सामने पहुँच रहे थे। कोई खाली हाथ न था। लाठी, डंडे, बल्लम, जिससे जो हुआ, साथ ले आया था। सबको खबर थी—"मास्टर दीनानाथकी लड़की उड़ाई गई, मास्टर दीनानाथकी!"

"अजी, सोलह बरसकी है। तुमने नहीं देखा ? खूबसूरत, कि ग़ज़बकी खूबसूरत!"

"अभी ब्याह नहीं हुआ।"

"और पढ़ाओ लड़कियोंको। जभी तो ब्याह जल्दी करना चाहिए।"

"सगाई हो गई थी। ब्याह बैसाखमें हो जाता।"

"अजी, पहलेसे लाग-साख होगी। नहीं तो इतनी उमरकी लड़कीको कौन ले जा सकता है।"

इधर यह सब कुछ था, उधर मास्टर दीनानाथके कानों भनक न थी। उन्हें अचरज अवश्य था कि अभीतक सुखदा और भगीरथजी घूमकर आये नहीं, पर सोच लेते थे, अब आते ही होंगे। चिन्ताकी ज़रूरत हो सकती है, यह संभावनातक उनके पास न फटकती थी।

तब पड़ोसी मनोहरलाल बाहरसे ही चिल्लाते घरमें दाखिल हुए—

"मास्टरजी, मास्टरजी, लड़की मिल गई।"

"क्या-आ?"

"अजी, लड़की ग़ायब हो गई थी न, वह मिल गई। और, वह गुण्डा भी पकड़ लिया गया हैं। लाइए, मिठाई खिलाइए।"

"क्या कह रहे हैं आप!"

"मैं कहता हूँ, अबसे आपको होशियार रहना चाहिए। मुसलमानोंको आप जानते नहीं हैं। और बनिए कांग्रेसी! आस्तीनके साँप हैं, साहब, आस्तीनके।"

दीनानाथजीने कुछ हँसना भी चाहा, लेकिन बाँह पकड़कर उतावलीसे पूछा—

"मनोहरलाल, कह क्या रहे हो?"

"अजी, मैं वहींसे आ रहा हूँ। लखूखा आदमी हैं। उसकी बोटी भी बच जाय, तो मेरा नाम नहीं। साला..."

"कहाँसे? कहाँसे?"

"कहाँसे? जनाब, वहाँसे, जहाँ अब पी वह गुंडा मौजूद है, और लड़की भी है। आप लड़कीकी शादी क्यों नही कर देते?"

"मनोहरलाल"—दोनों बाँहोंसे मनोहरलालको झकझोरकर दीनानाथने पूछा—"कहाँ हैं वे लोग?"

"कहाँ हैं! क्यों, क्या अब भी कोतवालीमें वह नहीं बैठा है? लेकिन मैं कहता हूँ, कुछ दमका और मेहमान है वह। फिर तो उसका बाल भी नहीं मिलेगा।"

दीनानाथने साइकिल सँभाली, और भागे। भीड़के पास पहुँचे, तो किसीने उन्हें पहचानकर बधाइयाँ दीं—

"मास्टरजी, लड़की मिल गई।"

"यही मास्टर है? इसीकी लड़की है? शर्मकी बात है।"

"जगह दो, जगह।"

"लड़कीकी हिफ़ाज़त होती नहीं, पढ़ानेका शौक़ है। बुरा हो इस पढ़ाईका।"

भीड़को चीरते हुए दीनानाथ कोतवालेमें दाखिल हुए। लड़कीके बापके आनेकी बातपर भीड़में नशेकी एक और लहर आ गई। अन्दर दारोग़ा साहबने कहा—"आइए, मास्टर साहब, आइए।"

"यह आप क्या ग़ज़ब कर रहें हैं? वह कहाँ हैं?"

उस कमरेमें पहुँचे, तो लड़की इनसे चिपट गई।

दारोग़ाने पूछा—यह आपकी लड़की है?

"जी हाँ, साहब! और यह मेरे दोस्त बाबा भगीरथजी हैं।"

"ओ हो, माफ़ कीजिए। इनको बड़ी तकलीफ़ उठानी पड़ी।"

"लेकिन जनाब, आपने भी तो ग़ज़ब किया। देखिए न, कितना हजूम जमा है।"

विचार होने लगा कि इस भीड़मेंसे कैसे बाबाजीको ले जाना होगा। आखिर, सोचा गया कि मास्टरजी साथ रहेंगे, तब ज़्यादा खतरा नहीं है।

पुलिसकी मददसे ताँगेमें सवार हुए, और मास्टरजी बराबर साइकिल लेकर चले।

"मास्टरजी, यही गुंडा है!"

"अरे, मास्टरकी लड़की भगानेवाला यही है।"

"साला, जाने न पाये।"

मास्टरने चिल्लाया—"अरे, क्या ग़ज़ब करते हो!"

लेकिन साहसी व्यक्तियोंने बढ़-बढ़कर भगीरथजीके धौल-धप्पे जमाने शुरू कर दिये।

ताँगा दौड़ा। पत्थर फिके। दीनानाथ साइकिल दौड़ाते जा रहे थे।

भीड़ एकाएक कुछ स्तब्ध रह गई थी, और ताँगा इतनेमें निकल गया। यही कुशल हुई।

लेकिन रास्तेमें स्वयंसेवकोंके दल अभी चले ही आ रहे थे।

देखा, मास्टर दीनानाथ ताँगेके बराबर साइकिलपर जा रहे हैं, और ताँगेपर लड़कीके साथ एक मुसल्मान-सा बैठा है।

"मास्टरजी, यही है !"––और दे डंडा !

"मास्टरजीकी लड़की यही तो है जी !"— और पाँच-सात आदमी दौड़े ताँगेकी तरफ़ लाठियाँ उठाये। कुछ ताँगेकी छतपर पड़ीं, एक-आध बाबापर भी। पत्थर भी खासे बाबाको लगे। पर ज्यों-त्यों, आखिर ताँगा घर पहुँच ही गया।

*   *   *

लेकिन बाबाजीने न अपना जाँघिया बदला, न भले मानसोंकी तरह कुर्ता-क़मीज़ कुछ पहनना शुरू किया।

"ओ हो, बाबाजी, आप थे। मैं मोटरपर जा रहा था, भीड़ मैंने भी देखी थी। क्या पता था, वहाँ आप घिरे थे ! आप भी खूब हैं।"

"भीड़ तो हमने भी देखी थी। लेकिन बाबाजी, आप ठीक तरह क्यों नहीं रहते ?"

बाबाजीको इससे कुछ भी सुख या दुःख नहीं जान पड़ता कि वह मौतसे बच गये। वह हँस देते हैं, और बाबा छोड़कर कुछ और बनना नहीं चाहते।

———

एक टाइप　　　　１３

मेरठ स्टेशनसे जब रेल चली तब देखा—एक पकी आयुके सज्जन दो बेंचोंके बीचसे अपनी राह बनाते हुए मेरी बिछी दरीके पासकी खाली जगहको निगाहमें रख-कर मेरी ओर बढ़े आ रहे हैं।

"क्या मैं यहाँ बैठ सकता हूँ?"

कहा, और दरीके कोनेको जरा उठाकर रूमालसे उस जगहको झाड़ते हुए मेरे उत्तरकी बिना अपेक्षा रखे वह वहाँ बैठने लगे।

मैंने कहा—फिक्र न कीजिए, इसीपर बैठिए। और उनके हाथसे दरीका छोर लेकन मैंने फिर ठीकसे बिछा दिया। सज्जन बैठ गये।

बैठकर अपने चश्मेके मोटे लैन्सोंमेंसे उस कम्पार्टमेण्टमें अवस्थित नर-नारियोंको वह निस्संग भावसे देखने लगे।

कुछ लोग अपनेमें व्यक्ति नहीं होते, वे एक टाइपके प्रतिनिधि हुआ करते हैं। उन्हें अपने जातिगत व्यक्तित्वकी इकाई समझिए। वह रामलाल हैं, या श्यामलाल हैं, या शीतलप्रसाद हैं, या ये तीनों न होकर चौथे नामवाले हैं; इससे कोई फर्क नहीं आता। ये सब जगह, सब नामोंके नीचे एक ही मूल्यके द्योतक हैं। सामाजिक प्राणीकी हैसियतसे अमुक ही उनकी जीवनकी नीति होती है, वस्तुओंका अमुक मूल्य, और विचारोंकी वही एक काटकी बनावट। वे अपना निजका व्यक्तित्व बनानेके झंझटसे आरम्भसे ही बचे होते हैं और अपने विश्वास आप गढ़नेका कष्ट भी उन्हें उठाना नहीं होता। ऐसे ये विश्वासी जीव निरापद जीवन-यापन करते हैं।

इसी भाँति मध्यम-मार्गी दीन-दुनियादार आदमियोंकी जातिका भी एक साँचा-सा बन गया है। वह मध्यम शिक्षा उठाकर, मध्यम नौकरी या मध्यम व्यवसायमें लग जाता है, और अपनी मध्यम गिरस्ती रचाता है। वह पापसे बचता है, दान-पुन्न

करता रहता है। घर बनाता है, बाल-बच्चे बनाता है, जीवनका बीमा कराये रखता है, और अन्तिम दिनोंमें परलोक-साधनके लिए व्यवस्थित रूपमें भगवद्भजन करता है। चोरी उसके लिए पाप है, झूठ गुनाह, तीर्थयात्रा धर्म, रिश्वत हक, और सूद सबसे ईमानदारीकी आय। पैसा बड़प्पन है, और बड़ा मकान, बड़ी गिरस्ती और बड़ी आमदनी ही इसके लिए प्रतिष्ठाका लक्षण और सफलताकी पहचान है। वह समाजके धरातलको बताता है। वह समाजकी रीढ़ है। बँधा धर्म, बँधी आय और बँधे कर्मका यह स्वस्थचित्त और सन्देह-मुक्त जीव, अर्थप्रधान जलवायुमें अच्छा मग्न रहता है।

रेलवेकी वर्दीका जाड़ोंका एक नीला कोट सज्जन पहने थे, गोल फेल्ट कैप थी, ठीक-ठाक कमीज़, ठीक-ठाक धोती और सुव्यवस्थित रूपमें तस्मोंसे बँधा हुआ काला शू। जेबमें एक किताब पड़ी हुई थी। सुघराईसे रखी इज्जतदार मूँछें थीं और शेष आज ही किया हुआ था। अवस्था पचास-पचपन होगी।

"आप कहाँ जा रहे हैं?"

मेरे हाथमें अंगरेजीका अखबार था, जो उसी स्टेशनसे लिया था। और मैंने देख पाया कि उधर उन्होंने देखा है, गोया वह कहना चाह रहे हैं—'मैं अखबार रोज पढ़ता हूँ, रोज पढ़ता हूँ, लाइए दीजिए।' मैंने कहा--मैं पास ही जा रहा हूँ, लीजिए अखबार देखिए। उन्होंने अखबार ले लिया; उसे हाथोंमें रखकर पूछा—गाँधी महात्मा आजकल कहाँ हैं?

मैंने मनके भीतर कहा—'अजी, महात्माजीकी फिक्र छोड़िए। उनकी फिक्र आप अपनेपर चढ़ने देंगे तो आपका चैन अखण्ड न रहेगा।' और भीतर यह कहकर मैं चुप रहा।

मुझे चुप देख वह बोले—गाँधीजी सच्चे महात्मा हैं, साहब। मैं भी खद्दर पहनता हूँ। यह देखिए, अन्दरकी बनिआइन, देशी मीलकी है। लेकिन साहब, खद्दर महँगा बहुत है। हम गरीब क्या करें?

मेरा ध्यान अखबारोंको पकड़े हुए उनके दायें हाथपर था, जिसकी नसें उभरी हुई थीं, भूरे-भूरे घने बाल उगे थे, अँगुलियाँ मोटी और छोटी थीं, अँगूठा गुट्ठल था, और कलाईपर चमड़ेमें जड़ी 'कीप सेक' बैठी मिनट-मिनट सरक रही थी।

"दिल्से साहब, हम महात्माजीके साथ हैं। लेकिन घर-बार है, बाल-बच्चे हैं।

एकदम तो सब कुछ छोड़ा नही जा सकता। हमारे कस्बेमें भी एक बार महात्माजी आये थे।"

कुछ देरमें एक स्टेशन आया, रेल ठहरी और बराबरकी बेंचसे एक महाशय वहाँ उतर गये। सज्जन उठकर उस खाली जगह चले गये।

मैंने कहा—बैठिए, बैठिए।

बोले—मैं ठीक हूँ, आप आराम कीजिए।

उन्होंने अपनी आँखोंके सामने अखबार फैला लिया और मैं कुछ देर टालकर बिस्तरपर लेट गया।

अखबारका यह सफ़ा देखा, वह सफ़ा देखा, वांटेडपर कुछ देर रुके और तीन-चार मिनटमें अखबार मेरी ओर बढ़ाकर कहा,—'लीजिए साहब। थैंक्स।'

अखबार लेकर मैंने तकियेके नीचे डाल लिया। अब वह रेलकी खिड़कीकी राह बाहर भागते हुए खेतोंकी ओर देखने लगे। मालूम हुआ—वे इसमें बहुत मग्नता पा सकते हैं। मानो उन्हें यहाँसे कुछ संदेश-सा, कुछ विस्मृति-सी अथवा कुछ स्मृति-सी प्राप्त होती है। वे कुछ देर चश्मेमेंसे बाहरका दृश्य देखते, कुछ देर बाद चश्मा माथेपर चढ़ा लेते और खुली आँखोंसे दृश्यपान करते।

मैंने पूछा—कहिए, आप कहाँ जाएँगे?

बोले—मैं भी दूर नहीं जाऊँगा।

मैंने पूछा—क्या कारबार है? मुलाजमत करते हैं?

"करना-कराना तो साहब सब निबटा चुका। अब तो भगवान्‌का सुमरन ही है।"

"पेन्शन हो गई है?"

"जी हाँ, बाल-बच्चे काम सँभालते हैं।"

मैंने कहा—बड़ा लड़का है? क्या उमर है?

"तीस बरसका होगा। रेलमें ३५) का नौकर है।"

"और उसके भाई-बहन हैं?"

"जी हाँ, चार भाई और चार बहनें और हैं।"

"सबकी ब्याह-शादी हो गई?"

"नहीं साहब, दो लड़के और दो लड़कियाँ अभी छोटी हैं।"

"क्या पेन्शन है?"

"अजी, पैंतीस रुपये मिलते हैं। बीस रुपयेसे मेरी नौकरी लगी थी। रिटायर होते वक्त सत्तर तक पहुँच गया।...दो लड़के हाईस्कूलमें पढ़ते हैं। छोटा प्राइमरीमें है। बड़े दो नौकरीसे लगे हुए हैं। दो लड़कियोंके हाथ पीले कर ही चुका, बाकी दोनोंके ब्याहमें दो-दो ढाई-ढाई हजार और लगाना है। वह भी हो जायगा। लड़कोंके लिए दो अलग मकान बनवा दिये हैं। अपना फर्ज इतना ही कर देना है। आगेकी भगवान् जानें। वे हैं और उनका भाग्य। अजी, कौन किसका करता है। सब अपने करमका खाते हैं। जितना हो सका, कर दिया है। और अपना क्या है। दो साल और रहा तो बीमेकी रकम भी पक जायगी। आठ हजार वह हो जायँगे। यह सब बाल-गोपालका हो समझिए। हमें अपने लिए अब क्या करना है? दो रोटी और रामका नाम।"

मैंने पूछा—आपको पेंशन पैंतीस रुपये है न? फिर यह सब आपने कैसे बन्दो-बस्त कर लिया?

वह हँसे नहीं, रुष्ट भी नहीं हुए, उन्हें जैसे विस्मय हुआ और उन्होंने कहा—तनख्वाह बीससे ही शुरू हुई थी, लेकिन उसीके भरोसे कौन रहता है?

मैंने कहा—रेलमें इतनी आमदनी है?

बोले—करनेवालेके लिए सब जगह रास्ते हैं। अनसूझतेके लिए क्या कहा जाय।

मैंने कहा—तब तो आप बेफिक्र हैं?

बोले—जी हाँ, मैं किसी खटरागमें नहीं हूँ। दुनिया देखी, सब माया है। सब परपञ्च है। जितना मोह करो, उतना हो वह खाने आता है। और कुनवेवाले क्या? सहाई क्या? अपना असलमें कोई भी नहीं है। सत्त नाम ही अपना है और कुछ साथ नहीं जाता।

मैं सज्जनकी ओर देखने लगा। वह हर भाँति संभ्रान्त और शीलवान् दीखते थे। देखते ही उनके प्रति आदर होना स्वाभाविक था। उनके जीवनमें और उनके मनमें शंकाका कीड़ा कहीं न दीखता था और पचास-पचपनके होने पर भी उनके चेहरे पर और कदाचित् हृदयपर भी विशेष रेखाएँ न बनी थीं।

मैंने तब हठात् अपने तकियेके नीचेसे अखबार झपटकर खींच लिया। उसमें आँख चिपका, मैं तकियेके सहारे सीधी तरह लेट गया। पलकोंपर सपने-से आने लगे और मैं सो गया।

मुझे प्रतीत हुआ, जैसे मैं कहीं बागमें हूँ और ऊँचे-ऊँचे पेड़ हैं और बहुत-सी मधुमक्खियाँ भनभन-भनभन कर रही हैं। मैं दोनों हाथोंसे उन्हें हटाना चाहता हूँ, पर उनकी भनभनाहट दूर नहीं होती। वे इकट्ठी-की-इकट्ठी मिलकर चारों ओर घुमड़ रही हैं। मुझे भय है, वे मुझे काटेंगी। मैं हटाना चाहता हूँ, वे नहीं हटतीं। मैं संकटमें हूँ।...

तभी सहसा मेरी आँख खुली। मैंने पाया, सज्जन अपनी सीटपर बैठे आँख मूँदे कुछ गुनगुना रहे हैं। मुझे मालूम हुआ, वह भगवान्में लीन हैं। वह जैसे मचल-मचलकर कहना चाह रहे हैं—

"सान्ताकारंग भुजकसेनंग पद्मनाबं सुरेखम्"

वह खूब भावसिक्त हैं, आर्द्र हैं, और उनका सिर रह-रहकर भक्तिमें डोल रहा है—

"विंसिआधारं गगनसदिसां मेघवर्णन सुभांगम्।"

मैं फिर सोनेकी चेष्टा करने लगा। लेकिन श्लोकके दुहराये जाते चरण रुक-रुक-कर मेरे कानोंपर लगते थे। वे किसी भी भाँति प्रीति-वर्द्धक नहीं थे। और मैं सोचता था—भक्ति मौनावलम्बी हो, तो क्या उसकी कम सुनाई होती है? लेकिन श्लोक तो पूरा होता ही रहा—

"लक्ष्मीकान्तं कमलनैनं योगबिन्ध्या सुनगरम्।"

फिर चौथा चरण भी आया—

"बन्दे विष्णुं भवभय हरम सर्व लोकेअनाथम्।"

उसके काफी देर बादतक आँखें उनकी मुँदी रहीं। फिर जब वे खुलीं, मालूम होता था, वे नई-ही-नई इस दुनियाको मायापर खुली हैं और यह माया उनको कोरी दृष्टिसे एकदम नीचे है।

उन्होंने मेरी ओर देखकर कहा—आपने यह पुस्तक देखी है? और जेबमेंसे वह पुस्तक निकाली। मैंने पुस्तकका नाम देखा—'तत्त्वचिन्तामणि।' वह मेरी बहुत ही रुचिकी पुस्तक थी। एक बार देखकर मैंने उसे अपने स्वाध्यायकी पुस्तक बनाना चाहा था। लेकिन उसी पुस्तकको उनके हाथोंसे अपनी ओर बढ़ती आती पाकर मुझे असमञ्जस हुआ। उस पुस्तकको उस समय हाथमें लेकर उलटना-पलटना और उसकी

प्रशंसा करना मुझे रुचिकर न हुआ। मैंने कहा—जी हाँ, आपको इस पुस्तकमें रस मिलता है ?

बोले—अपूरब पुस्तक है। आपने 'कलियान पत्तर' देखा है ! गोरखपुरके ये कलियानवाले लोग बड़ा उपकारका काम कर रहे हैं, साहब।

मैंने कहा—जी, हाँ; जी, हाँ।...आप संस्कृत तो खूब जानते होंगे ?

बोले—अजी नहीं साहब। संस्कीरत जानते तो नहीं। लेकिन देवभाषा तो साहब, वही है। और उसमें कितना मिठास है, देखिए—

"सान्ताकारंग भुजगसेनंग .."

और दो-दो बार दुहराकर श्लोकके पूरे चारों चरण उन्होंने मुझे फिर सुनाये।

और भी गहन तत्त्वकी और दर्शन भक्तिकी बातें वह मुझसे करते रहे। गनीमत यही थी कि मुझे पास ही उतरना था। मेरा स्टेशन आया और मैंने उतरते हुए सज्जनसे बिदा ली।

उन्होंने कहा—"अच्छा, जाइएगा ? भगवान कुशल-मंगल रखे।" और बिस्तर-को लपेटते हुए जो मेरा अखबार नीचे गिर गया था, उसे उठाकर, मुझे दिखाकर सज्जनने कहा—क्या इसकी आपको जरूरत है ?

मैंने कहा—नहीं-नहीं, आप रखिए।

और मैं चला आया।

मित्र विद्याधर १४

जी जब हारता-सा है और ताकत चाहता है, मैं अपने मित्र विद्याधरके पास पहुँच जाता हूँ। वह नगण्योंमें नगण्य हैं; पर अपने लिए जिन थोड़ोंको मैं गिनता हूँ, उनमें उन्हें अवश्य गिनता हूँ। बी० एस-सी० किया, एम० ए०, एल एल० बी० किया, उसके बाद एम० बी०, बी० एस० भी किया। फिर छक गये। आगे और कुछ करनेकी भूख नहीं रही। पास खाने-पीनेको था, और स्वभाव मननशील पाया था। उसके बाद बरसों-बरस, घूमकर और बैठकर, बहुत कुछ देखा, छाना और पढ़ा। इस सबके परिणाममें आज वह सैंतोस वर्षसे ऊपरके हैं, विनब्याहे एकाकी हैं, और एक प्रचार-संस्थाके अवैतनिक उपमंत्री हैं। सभाके दफ्तरमें आकर पाँच-छह घण्टे मनोयोग-पूर्वक चिट्ठी-पत्रीकी लिखापढ़ी करते रहते हैं। और वह कुछ नहीं हैं, और कुछ नहीं करते।

उन्हें बुद्धिमान् कहूँ, तो कैसे कहूँ। और मूर्ख भी वह नहीं हैं। उनकी आँखें भरपूर खुली हैं। वह दुनियामें ऊँचा-नीचा सब देखते हैं। फिर भी सब कुछ होकर न-कुछ बने रहनेमें उन्हें अप्रसन्नता नहीं है। उनके मनके भीतरकी आकांक्षाको कोई खा गया है। मुझे ऐसा लगता है, इतने बरस अकेले रहकर, जब-तब अपने भीतरकी तह फाड़कर अपना सिर उठा उठनेवाली आकांक्षाको ही यह चुपचाप खाते रहे हैं — यहाँतक कि अब उसका जड़-मूल ही निश्शेष हो गया प्रतीत होता है। बस चले, और अवसर आये, तो यह जीवन-भर चाकरी करते रहें—और मगन बने रहें। बहुत पढ़ने और जाननेसे यह शून्य-बिंदु हो रहे हैं,—यों शून्य हैं, कोई अपने दायें इन्हें ले ले, तो उसका दसगुना मूल्य बढ़ा दें। मानो इनकी साधना ही यह रही है, कि यह शून्य हो जायँ। मित्र सब कुछ जानकर यह नहीं जानते, सो नहीं है। मूर्ख ज्ञान चाहता है—मूर्खताका उनमें इतना अभाव है कि वह ज्ञानतक नहीं चाहते। शैतान

काम चाहता है — शैतानका ऐसा आत्यन्तिक अभाव उनमें है कि वह सर्वथा निष्क्रिय रहकर अप्रसन्न नहीं हैं। इतनी अधिक जानकारी उन्होंने पाई है कि जड़ हो गये हैं, ऐसा जड़, जो सचेतन है, और जिसने चेतनाका ऐसा विकास किया है कि वह, जैसे यत्न करके जड़त्वको अपना उठा है।

बात कितनी समझ आती है, मैं नहीं जानता। पर, मुश्किल यह है, वही समझमें पूरी तरह नहीं आते। पर, यहाँ कुछ कह लूँ, उनके सामने मेरी एक नहीं चलती। उनके सामने होकर देखता हूँ, उनसे कुछ पा ही रहा हूँ, उन्हें दे सकने योग्य मेरे पास कुछ नहीं है।

किन्तु, इतना सुनकर, मेरे बारेमें भूल न हो। मैं उनकी तरह नहीं हूँ। घर-कुटुम्बवाला हूँ, प्रतिष्ठा-पैसेवाला हूँ, मेरा नाम खासा परिचित है, और जहाँ पहुँचता हूँ, गिना जाता हूँ।

पर जब विद्याधरके पास पहुँचता हूँ, तब मेरे साथ इनमेंसे कुछ भी परिग्रह नहीं रह पाता। अपनी प्रतिष्ठा, संभ्रम, प्रसिद्धि, रौब और दंभ — इनमेंसे कुछ भी अपने साथ बटोरकर रखनेकी आवश्यकतासे, मुझे, उसकी उपस्थितिमें, मुक्ति मिल जाती है। कारण यही, कि ये सब चीज़ें उस क्लर्क विद्याधरकी निगाहसे नीचे रह जाती हैं। उसे दीखती नहीं, सो नहीं ; पर अपनेमें उस निगाहको उलझा नहीं सकतीं ; उसमें किसी तरहका विकार नहीं ला सकतीं।

जो अपने कारण, सबकी निगाहमें क्लर्कसे भी गया-बीता है, और अपनी डिग्रियोंके कारण केवल जो सभाका उपमंत्री है,—उसी छोटे आदमी विद्याधरके सामनेमें पहुँचता हूँ, तो अपने बड़प्पनको अलग उतारकर पहुँचता हूँ। और मनमें यह अनुभव कर प्रसन्नता ही पाता हूँ कि मैं उसकी तुलनामें ओछा रह जाता हूँ।

मुझे कभी-कभी खेद होता है कि क्यों यह मेरा मित्र विद्याधर वहाँ है, जहाँ है। क्यों मुझे, उसे समाजमें उसके योग्य स्थानपर पहुँचाने नहीं देता। पर मैं उसे इतनी-सी छोटी बात समझानेमें असमर्थ हो जाता हूँ, कि गलीका झम्मन भंगी सम्राट् जार्जसे छोटा है। मैं बहुत करता हूँ, तो वह तनिक हँस पड़ता है। वह कम्बख्त क्यों नहीं समझता कि दुनियामें छोटा-बड़ा है, है, एकसे लाख बार है और हमेशा रहेगा, और उसे बड़ा बनना ही चाहिए, छोटा नहीं रहना चाहिए। और मुझे खीझ होती है कि मैं क्यों नहीं उसे बड़ा बननेको राजी कर सकता। और जब वह छोटा है,

तो मैं ही क्यों दुनियामें बड़ा बना खड़ा हूँ? ऐसे समय वह कहता है—छोटा-बड़ा नहीं है। पर एक-सा भी नहीं है। सब अपनी-अपनी जगह हैं। और उनकी जगह वही है, जो है। सब, कुछ और होना चाहते हैं। जो होना चाहते हैं, उसे बड़ा माना। इसीलिए जो हैं, वह छोटा हो गया। मनके भीतरका यही छुट-बड़पन जगका राजरोग है। मनमेंसे इस कीड़ेको निकालना होगा। तब रूस समानताकी वास्तविक चाहमें तुम्हारे पीछे आयेगा।

मैंने मनमें कहा—मर कम्बख्त। रूस-वूस करता है, यह नहीं कि क्लर्की छोड़-कर कुछ बनें।

यह सब कुछ है। पर, जब जी हारता है, मैं उसीके पास पहुँचता हूँ। उस मिट्टीके माधोमें फर्क नहीं आता। पर मेरे जीको ताकत मिलती है।

* * *

तो रातको जब मैं अकेलेमें फूटकर रो उठा, और रोनेके बाद भी मन सीसेकी तरह भारी ही रहा; और तनिक चैनकी किरन चारों ओरके अँधेरेमें कहींसे भी फूटती मुझे नहीं दीख सकी; और मुझे लगा, ऐसे समय भटकती मौत कहीं आ रही जा रही होती, तो उसे कसकर ऐसे चिपटा लेता कि मुझे साथ लिये बिना जाने न पाती, तब सोचा—विद्याधरके पास जाऊँगा।

इस तरह हल्के होकर मैंने नींद ली, और सबेरे निबटकर ग्यारह बजे उसकी सभाके दफ़्तरमें पहुँचा।

उसने कहा—आओ। क्यों, क्या हाल है?

मैंने कहा—तुम कहो, तुम्हें क्या मौतके दिनतक यहीं मरना है? मेरी पूछते हो, यह नहीं कि कुछ अपनी फिकर करो।

विद्याधर तनिक हँसा। मुझे यही असह्य होता है। सब बातपर, जैसे भेदसे, वह हँसता क्यों है? मैंने कहा—तुम्हारे स्वामीजी कहाँ हैं आजकल?

उसने सहज भावसे कहा—यहीं हैं। दौरेसे आ गये हैं। इस समय अपने बँगलेपर ही होंगे।

मैंने कहा—वह बँगलेपर कोचपर होंगे। मैं पूछता हूँ; तुम दफ्तरमें मेज़पर क्यों हो?

उसने फिर जैसे हँसना चाहा। कहा—मैं स्वामीजी नहीं हूँ, विद्याधर हूँ; इससे

अपनी जगह हूँ। लेकिन, तुम अपनी—मनकी बात कह डालो। मुझे लेकर अपनेको यों मत पैनाओ।

मैं—स्वामीजी किस न्यायसे वहाँ हैं? और तुम किस तर्कसे वहाँसे वंचित हो? और मैं कहता हूँ, तुम क्यों अपने व्यवहारसे इस अन्यायको स्वीकृत और पुष्ट करते हो? बड़ी सभा है तुम्हारी। प्रचार करती है, उद्धार करती है, तुम्हें क्लर्क बनाती है, और स्वामीजीको बँगलाधीश बनाती है। क्यों?—इसीलिए कि तुम अधिक योग्य हो, और स्वामीजी धर्मसे अधिक दूर हैं? अब तुम मुझसे कहोगे, सब ठीक है और मैं गलत हूँ।

विद्याधर--हाँ, सहज न रह सकना गलतीकी पहचान है।

मैं--फिर वही सहजकी बात करते हो। अँधेरके सामने सहज रहा जाय? कैसे रहा जाय? वह दिल नहीं कुछ और है, जो सहजसे कुछ और होना जानता नहीं। और तुम जानते क्या हो, आदमीपर क्या बीतती है, और क्या-क्या बीत सकती है। अकेले हो, यहाँ मेज़पर बैठे रहते हो और सहज भावसे कह देते हो—सहज रहो।...

विद्याधर—ठीक है, अब तुम शायद अपनी बात कहनेके निकट आ रहे हो। कुछ लेकर आये हो, उसे कहकर हल्के हो जाते हो नहीं, मुझे लेकर गर्म होते हो।

और, वह उसी तरह मुस्कराकर रह गया। हँसना है, तो हँस क्यों नहीं पड़ता; मुस्कराकर क्यों रह जाता है? और क्यों ऐसे देखता है? वह हिलता क्यों नहीं, क्यों अचल रहता है? मैं क्या उसका कुछ नहीं हूँ, और वह क्या मेरी विपत नहीं देखता, कि खुद हँसता है!

मैंने कहा—विद्याधर, तुम आदमी नहीं हो। पशु होते, तो भी अच्छा होता, तुम पत्थर हो। और मुझे कुछ नहीं कहना—मैं जाता हूँ।

विद्याधरने कहा—नहीं, तुम जाओगे नहीं। कुछ बीता है, तुम्हारे साथ। तुम जानते हो, उसमें मेरा दोष नहीं है। किन्तु रोष मुझपर ही करते हो, इससे प्रकट है, चित्त तुम्हारा स्वस्थ नहीं।

मैं बैठ गया। मुझे सुख नहीं था। और वह बेलाग स्वस्थ-चित्त बैठा है, इससे मुझे और दुःख था। रोगी के सामने डाक्टर कुर्सीपर अविचल भावसे बैठकर हाल पूछकर और नब्ज देखकर, गम्भीर भावसे नुस्खा लिखकर, अलग करता है, तब क्या रोगीको कुछ अच्छा लगता है? क्या वैसा अच्छा लगता है, जैसे जब मा सिरहाने

आ पूछती है—'बेटा, कैसा जी है ?' और उत्तरमें दो बूँद आँसू गिरानेको तैयार हो जाती है। जब सामने वह मिलती है—मा, पत्नी या कोई—जिसका जी अपनी हालत-से छूकर रो उठे, तब अपने जीको ठंढक मिलती है। पर रोगका निदान तो डाक्टरके पास ही है, माके पास नहीं। रोगी डाक्टरसे ठंढक न पाये, आरोग्य वहींसे पायेगा।

मैंने पूछा - विद्याधर, तुम जानते हो, प्रेम कम्बख्त क्या चीज़ है ?

विद्याधर गंभीर हो गया, जैसा कि वह कम होता है।

'प्रेम चीज़ नहीं है, प्रेम विभूति है। हम कम्बख्त हैं, जो उसे अपना मानते हैं। वह ईश्वरका ऐश्वर्य है। अव्याबाध व्यापक है। अपने-अपने बूते मुताबिक सबको मिलता है।'

मैंने कहा—विद्याधर, तुम नहीं जानते, प्रेम क्या है। जिसे प्रेमपर ईश्वर याद आये, वह वास्तव प्रेम, मानव-प्रेम क्या जानता है ? विद्याधर, मुझे बताओ, क्या तुमने कभी प्रेम किया है ? तब मुझे तसल्ली होगी।

विद्याधरने कहा—हम मानव जड़ हैं। चैतन्य प्रेम है। उसीके प्रकाशमें हम चैतन्य हैं। उसकी ऊष्मा हमारा जीवन है। उससे रिक्त हुए कि जीवनान्त हुआ। कौन प्रेमसे वंचित है ?—वह अभागा है। वह अभाग्य पूर्ण हुआ कि मौत आई। पर, अपने-अपने बूतेकी बात है। मेरा बूता विनोद, शायद थोड़ा है।

मैंने कहा—तो तुमने प्रेम किया है ?

विद्याधर—तुम पूछते ही हो, तो मैं कहूँगा, हाँ, किया है। पर, उसका दर्द छूट गया है। अब उसका आनंद ही मेरे साथ शेष है। स्मृति-रूपमें मेरे साथ वह नहीं है। स्मृतिमें कसक है, परायापन है, अंतर है। मेरे साथ वह प्रत्यक्ष है, एकाकार है। बीचमें संयोजक बनकर स्मृतिको टिकनेका अवकाश नहीं है।...तभी देखते हो, मैं रोता नहीं हूँ। बातें सब मेरे साथ रोनेकी हैं। देखो न, तुम विद्याधर न होकर भी मेरे पास आकर विद्याधरकी परिस्थितिपर रोया करते हो। मेरा प्रेम विलग हो, तो रोऊँ। वियुक्त, दूर हो, तो तड़पूँ। इसीलिए मैं अकेला हूँ, इसीलिए सदा तुष्ट हूँ।

मैंने कहा—विद्याधर !

विद्याधर, जो कभी नहीं हुआ, अब हुआ। वह विचलित हुआ।

मैं अवश हो उठा। मेरी बात पीछे होगी विद्याधर, और तुम्हें अपनी बात मुझे सुनानी होगी।

उसकी आवाज़ हिल आई। कहा—विनोद, नहीं, यह नहीं...।

मैंने कहा--तुम जानते हो, मैं कौन हूँ। विद्याधर, मैं तुम्हारा हूँ।

विद्याधर सामनेको देख उठा। मेरे बहाने मेरे पीछेकी दीवारमें वह क्या देख रहा था, जैसे उसीको लक्ष्य कर उसने कहा—अपने जीसे चीरकर अलग करें, तब सुनायें।—नहीं, यह सुखद नहीं है।

मैंने अपना हाथ बढ़ाकर मेज़पर पड़े उसके हाथको पकड़ लिया। कहा—विद्याधर !

और हिमाचलसे ऊँचा यह महाशुभ्र-पत्थर विद्याधर, मानो मंत्रबलसे एकाएक गलकर बह पड़नेको हो उठा।

मैं सहसा ही घबड़ा गया।

मैंने देखा, वह चुप, निःस्पंद बैठा है।

वह जाने कहाँ देख रहा है। मेरे चेहरेको आर-पार करके कहाँ दृष्टि गड़ी है कि निर्निमेष हो पड़ी है।

कि,—उन फैली, टँकी, आँखोंमें एक खारी बूँद आई और टप् मेज़पर टपक पड़ी !

उस टप्की आवाज़से वह एक साथ चौंका। मानो कहींसे टूटा, टूटकर गिरा। सब स्तब्ध था। उसने झपटकर आँखें पोंछ लीं।

तब मानो उसने मुझे देखा। एक क्षीण मुस्कानकी छाया उसके ओठोंके किनारे आ रही। वे ओठ किंचित् खुले—

उसी समय द्वारपर साफेबंद एक ग्रामीण पुरुष दीर्घाकार नकारकी भाँति उपस्थित हो गया। बोला—स्यामीजी, इहाँ ही रैते हैं?

वह मुस्कान स्फुट होकर ओठोंपर फैल गई। क्या वह हँसा? उस नीरव हास्य-पर मेरे जीमेंसे हाय उठी, और मैंने उसे मसोस ली। उसने अँग्रेज़ीमें कहा—समय गया, वह आ गया था—चला गया, इसमें मेरा दोष कहाँ है? देखो, क्या अब वह फिर आता है? विनोद, तुम जाओ, खुश रहो। सब भगवान् करता है।

मैंने कहा—विद्याधर !

वह ग्रामीणकी ओर मुड़ गया, कहा- स्वामीजी यहाँ नहीं रहते हैं। पर आओ भाई, तुम कहाँसे आते हो?

"मैं जी, स्यामीजीके दिरशनोंको आया था। रोत्तकके पास रैता हूँ, जी। स्यामीजी म्हारे गाम आये थे—"

"अच्छा, कौन गाँव ?"

और, मैंने देखा, वह हठात्, गँवारसे छुट्टी पा लेना नहीं चाहता।

वह बातोंमें उलझ गया, मैं चुपचाप उठकर चला आया।

———

रामूकी दादी

१५

रामू की दादीने उठकर जो तकियेके नीचे टटोला, तो पाया—दो हैं, एक गिन्नी गुम हो गई है। उनकी वृद्ध देह इसपर क्षमता से भर आई। उठ बैठीं, बिस्तर खखोल डाला, यहाँ देखा, वहाँ देखा। पर, गिन्नी बिलकुल गायब थी।

अब, गिन्नी गिन्नी है। और आज यह गिन्नी होना अपनेमें किसी तरह कम बात नहीं है। तिसपर चीज़ोंके लापता हो जानेका सिलसिला ही उठकर यों चल पड़नेका नाम ले लेगा, तो हद कहाँ मिलेगी। रामूकी दादी सोचने लगी, आखिर गिन्नी हो क्या गई होगी।

उससे आदमीके मनमें पंख भले लग जायँ, पर गिन्नी चीज़ वज़नदार है, इज्ज़तदार है, आदमी सरीखी जानकी वह नहीं बनी, और खोटी नहीं है; सच्चे सोनेकी वह बनी है और ठोस है। इससे तकिये के नीचेसे वह यदि एकदम अलभ्य बन गई है, तो किसी भाँति स्वयं उसपर संदेह नहीं किया जा सकता, उसके लिए किसी आदमीको पाना होगा।

'ऐसा कौन गिन्नी ले सकता है?'—दादीने सोचा—रधिया चौके और दालानसे उठकर इधर आई नहीं। और अभी घंटा-भर हुए ही तो मैंने सँभालकर रखी थीं। कहीं गिर ही तो नहीं गई? देखूँ।

उसने देखा—

अब बात यह है कि एक नाम भीतरसे उठकर ऊपर आना चाह रहा है। पर जैसे उस नामको इस संबंधमें अपने सामने पाना उसे पातक लगता है। इससे चाहती है, यह किसी तरह सिद्ध हो जाय कि गिन्नी गिर ही पड़ी थी। उसके मनमें यह निरंतर बज रहा है कि 'ऐसा नहीं है, ऐसा नहीं है।' 'गिरी नहीं है और चोरी करनेवाला

वही एक है' पर इसी बातको अपने निकट अस्वीकृत करनेके लिए उसने फिर खोजा और फिर देखा।—पर, गिन्नी को न मिलना था, न मिली।

रमचन्नापर अविश्वास करना उसे स्वयं अपने प्रति लांछन मालूम होता है। पर कितना ही सोच देखे, क्या कोई और है जो इस बीच उसकी कोठरीमें आया-गया है, और जिसके लिए तनिक भी संभावना है कि गिन्नियोंके अस्तित्वको जाने?

रामचरण, अर्थात्—रमचन्ना, बारहकी उमरसे इनके यहाँ नौकर है। अब उसकी अवस्था तीसपर पहुँचती होगी। यों तो यही उमर है जब गिन्नीकी क़ीमतकी आदमी-को खूब पहचान हो; पर ठीक यही उमर भी है, जब रामूकी दादीको वह अतीव आकर्षक, प्रिय और अनिवार्य लगता है।

रमचन्ना बेहद घरका आदमी है। इस घरके काम या ज़रूरतके मौकेपर वह सदा ऐसे ही काम आता रहा है, जैसे सोनेका ज़ेवर। छोटेसे यहीं बड़ा हुआ है। उसका ब्याह इसी घरके लोगोंने कराया, और अब विधुर है, तो फिर इस परिवारके लोग झट-पट उसका ब्याह करा देनेको उत्सुक हैं। और तीन बरसका रामू तो बस इसीका है। उसे जब देखो, तब रमचन्ना। दादीकी गोदमेंसे पूरी तरह आँख खोलकर उठा नहीं कि—रमचन्ना। इस रमचन्नाकी कमर और कंधे पाकर और दादीकी गोद पाकर इस काठके उल्लू रामूको यह भी पता नहीं है कि कोई मा भी होती है, जो उसके नहीं है। और कोई बाप भी होता है जो भी लगभग उसके नहीं है। जबसे इस रामूका बाप इस दुनियामेंसे रामूकी माको खोकर और महीने-भरके इस नन्हेंसे रामूको दादीके ऊपर छोड़कर विलायत जाकर रम रहा, तभीसे शनैः-शनैः यह रमचन्ना उस दादीके निकट नौकर कम होता गया और बेटा ही ज़्यादा-से-ज़्यादा होता गया।

'रमचन्ना, और घरमें ही सेंध लगाये!'—दादी अत्यंत विपन्न भावसे सोचने लगीं—'उसे क्या नहीं मिला? और वह और क्या चाहता है, जो कहकर नहीं पा सकता। लेकिन यह बहुत खराब बात है, और आज इसे तरह दे दूँ, तो कल और कुछ भी हो सकता है। और मैं नहीं चाहती, यह लड़का रमचन्ना चोर बनकर जेलमें सड़े।'

दादीने जोरसे आवाज़ दी—रमचन्ना!

आवाज़से पास सोये रामूको नींदको आघात हुआ। उसने चौंककर दोने-सी बड़ी-बड़ी अपनी कोरी आँखें ज़रा खोलीं, मीचीं, खोलीं और फिर मींचकर करवट ले दादीकी छातीसे लगकर सो रहा।

दादीने पुकारा—रमचन्ना !

रामचरण भीतर आया और दादीकी खाटके पास खड़ा होकर हँसते हुए बोला—हमारे रामजी सो रहे हैं ! क्या है, अम्माँजी ? लाओ, इसे बाज़ारसे रेवड़ी दिला लाऊँ, बहुत सो लिया।

यह लड़का चोरी करेगा और फिर इस तरहसे सामने आकर बनेगा भी। दादी कठिन हो गईं, और तुरंत कुछ बोल नहीं सकीं।

रामचरणने देखा, कहीं कुछ ग़लत है। उसने हठात् कहा—उठो रामचंदरजी, भोर हो गई।

और रामूने झट आँखें खोल लीं, बाहें फैलाकर कहा—लमअन्ना।

वह बढ़कर रामूको गोदमें उठा ही लेना चाहता था कि दादीने कहा—ठहर रे रमचन्ने !

बच्चा सहमकर रह गया और इसपर दादीका मन भीतरसे और भी कठिन हो आया। इस समय उसके मनको बड़ा क्लेश था।

'ठहर रमचन्ने,'—दादीने कहा—'पहले बता, तैंने यहाँ से गिन्नी ली है ?'

'कैसी गिन्नी अम्माँजी ?'—रमचन्नाने हँसकर कहा और झुका कि रामूको गोद में ले ले।

'मैं कहती हूँ, तैंने यहाँसे गिन्नी नहीं ली ? सच बोल, नहीं ली !'

रामचरण चुप।

दादीने कहा—मैं जानती हूँ, तैंने ली है। मैं तो सोचती थी, तुझसे कहूँ कि अगर तुझे ज़रूरत है, तो मुझसे क्यों नहीं कहता। एक छोड़ क्या दो गिन्नी मैं तुझे नहीं दे सकती ? पर, क्यों रे, तू अब ऐसा हो गया है कि पहले तो चोरी करे, फिर उसे कहे नहीं, और पूछें तो चुप हो जाय ?

रामचरण चुप रहा। बुढ़िया सोचती थी कि अगर यह हाँ कह दे, तो इससे गिन्नी वह वापिस नहीं लेगी। इसमें उसे संदेह न था कि अगर और कुछ नहीं होता, तो वह खुलकर यही कह दे कि उसने नहीं ली। तब वह उसे छोड़कर कहेगी—'अच्छी बात है, नहीं ली तो जाओ खोजो, वह कहाँ गई।' वह इसके लिए भी तैयार हो सकती थी कि इसीमें कुछ दिन निकल जायँ और फिर बात आई-गई हो जाय; लेकिन यह

जो रमचन्ना सामने गुम-सुम खड़ा है, पूरी तरह खुलकर बात भी नहीं कर सकता, जैसे उसे मैं खा जाऊँगी, यही उसे बड़ा बुरा लग रहा था। कहा—

'अरे, बोल! कुछ मुँहसे कहता क्यों नहीं?'

रामूने दादीका हाथ पकड़कर कहा—अम्माँजी, अम लेबली खाअँगे।

हाथसे रामूको अलग झिटककर दादीने कहा—हरामी, राकशस, बोलता क्यों नहीं?

बिलकुल खोयेसे बैठे रामूको देखता हुआ रामचरण चुप हो रहा।

दादीका सारा शरीर काँपकर थर्राने लगा। उन्होंने हिलते हुए हाथको उठाकर चीखकर कहा—नमकहराम! निकल जा मेरे यहाँसे! (और तभी जरा मद्धिम भी वह पड़ गईं।) हम कहते हैं, बोल, बातका जवाब दे, सो उसमें इसकी मौत आती है!

रामचरणने कहा—अच्छा माँजी, मैं चला जाता हूँ।

रामू बोला—लमअन्ना।

दादीने अत्यन्त क्रुद्ध होकर, मुँह बिगाड़कर कहा—

"माँजी, म्यें चिल्या जाता हूँ'। क्यों एक गिन्नीसे तेरा भर गया पूरा पेट, जो चला जाता है? चल, मुझे नहीं चाहिए तेरी गिन्नी, अपने पास ही रख और निकल जा इसी दम मेरे यहाँसे, बदमाशके बच्चे!'

उसने हाथ जोड़कर कहा—अच्छा माँजी, तो मैं चला जा रहा हूँ।

'हाँ, जा, जा, जा!'--चिल्लाकर दादीने कहा—'मेरा दम तोड़ने यहाँ क्यों खड़ा है? जा, टल।

अत्यन्त उद्धत होकर, मचलनेको तैयार, रामूने कहा-लमअन्ना, अम लेबली खाअँगे।

रामचरण मुँह झुका बाहर निकलता चला आया। रामूको देखा भी नहीं।

रामू सुध-बुध खोया-सा चुप बैठा रहा और रामचरण बिलकुल ओझल हो गया, तो बिना कुछ कहे वह लातों और थप्पड़ोंसे दादीको मारने लगा।

इस रामूकी मारको खाकर दादीमें धन्य आनन्दका भाव हीं उठा है; पर इस बार दादीने जोरसे दो चपत उसकी कनपटीपर जड़कर कहा—चुप बैठ सुअरके बच्चे! और धक्के से उसे वहीं खाटपर लुढ़काकर बुढ़िया दादी झटकेसे उठकर चलने लगीं।

रामू सिसक-सिसककर रोने लगा।

उसकी रोने की आवाज़ सुनकर फिर लौटीं और सिसकते बच्चे की पीठपर और धौल जमाकर कहा—रोता है? ले रो!—एक थप्पड़ और रख दिया।

फिर तेजीसे चलकर भीतरकी कोठरीमें घुस गईं। वहाँ एक मटकेमेंसे गूदड़ निकाला और फिर दो मुट्ठी रुपये। उन्हें गिना, और फिर एक मुट्ठी और निकाले। पचासके ऊपर भी पाँच रुपए उनके हाथमें रहते थे, वह पूरे पचास चाहती थीं। लेकिन गुस्सेमें अब वह पाँच अतिरिक्त रुपये वापिस मकटेमें नहीं रख सकीं और उसमें ज़ोर-ज़ोरसे वही गूदड़ ठूँसकर भर दिया।

लौटकर चिल्लाईं—रधिया! रधिया! अरी ओ कम्बख्तकी बच्ची, सुनती है?

रधिया जब गीले हाथोंको लेकर सामने आई, तो दादीने कहा—तू बहरी है, जो इतनी देरसे चीख रही हूँ और तू सुनती नहीं है? ले ये रुपये। वह रमचन्नेका बच्चा अभी बाहर ही होगा। अभी जा। ये सब रुपये, उसके सिरपै मारकर आ। कहना, मुझे नहीं चाहिए उसकी गिन्नी और कहना, मैं अब उसका मुँह न देखूँ, और जो उसने रामूकी तरफ कभी देखा तो अपनी खैर न समझे। देखती क्या खड़ी है, जाती क्यों नहीं? समझ लिया न, सिरपर देकर मारियो। चल, जा।

वह लौटी तो सोचती थी कि वह रामू बदमाश, ऐसे थोड़े ही हाथ आयेगा, बिना पीटे वह ठीक न होगा। लेकिन गई तो देखा, वह सो गया है, और आँसू उसके गालपरसे अभी नहीं सूखे। ज़ोरसे इस बिना माँ-बापके बेटेको अपनी छातीमें भरकर चूमकर, वह रोने लगी। पहले तो इस आकस्मिक उपद्रवपर चौंककर, और दादीको देखकर वह बच्चा भी चिल्लाया, और फिर आँसू ढारती दादीका मुँह निहारकर वह अपने छोटे-छोटे दोनों हाथोंसे दादीकी ठोड़ीके साथ खेलने लगा। और दादीके आँसू और भी अटूट होकर झरने लगे।

पढ़ाई १६

यह सुनयना जाने कितने बरसकी हो जानेपर ठीक-ठीक सुनयना बनेगी ? अभी तो दिनभर नूनी ही बनी रहकर ऊधम मचाती डोलती रहती है। जब दो बरस की थी, मैंने गोदमें बिठाकर पूछा—'बिट्टी, तेरा नाम क्या है ?'

बिट्टीने कहा—ऊँ-ईं।

बिट्टीकी बुआने कहा—नूनी ! हाँ, बिट्टो, फिर कहना नूनो !

और बिट्टीने फिर कहा—ऊँ-ईं।

हम सब हँस पड़े, उसने झट दोनों हाथ लपकाकर मेरी डाढ़ी पकड़ ली, कहा—आ-ऊँ-ऊँ-ईं।

तब तो यह सब कुछ ठीक था। पर, अब चार बरस और गुजर गये हैं, छह बरससे भी ऊपरकी हो गई है। अब पुराना वह सब कुछ नहीं निभ सकेगा। उमर आ गई है कि अब अदब सीखे, कहना माने, और शऊरसे रहे। और, वह शऊर जानती नहीं। छह बरसकी लड़कियाँ दूसरी जमात तक पहुँच जाती हैं, और एक यह है कि माँका दूध नहीं छोड़ना चाहती। यों काममें माँको अँगूठा दिखाकर भाग जाती है। माँ इससे बड़ी असन्तुष्ट है, —एक तो लड़की है, वह यों बिगड़ी जा रही है। बिगड़ जायगी तो फिर कौन सँभालेगा, उन्हींके सिर तो सब पड़ेगा। सो, वह भी औरोंकी तरह फिकर करना छोड़ बैठें, तो कैसे चले। उनकी और सुनन्दाकी कहा-सुनी इस बातपर अक्सर हो जाती है।

बिट्टीकी बुआ कहती है—अरी, क्यों उसे धमकाया करती है। आखिर, बच्ची ही तो है।

वह कहती हैं—जीजी, बच्ची तो है, पर लाड़का बखत होता है। लाड़ क्या

में करना नहीं जानती ? पर, उमर होती, और कामके बखत का लाड़ बिगाड़ ही करता है। और जीजी, कामसे आदमी बनता है, लाड़से तो कोई बनता नहीं है।

ऐसे समय नये कपड़ोंको मैला बनाकर, नूनी यदि आ पहुँचती, तो अम्मा उसकी कहतीं—क्यों, फिर खेलने बाहर पहुँच गई थी! अब तू ठीक तरह पढ़ेगी नहीं ? अच्छी बात है।

और उनकी मुद्राको देखकर नूनी बुआकी गोदके पास सरक जाती। और बुआ उसे गोदमें दुबका लेती।

उस सयम 'नहीं जोजी, यह नहीं होगा'—कहतीं, और नूनीको उस गोदमेंसे खींचती हुई वह ले जातीं। उसे रुलातीं, और फिर गोदमें लेकर, तभी मँगाकर मीठी-मीठी बर्फी खिलातीं।

उनके पेटकी कन्या है, पर दुनिया बुरी है। उसने पढ़ना-लिखना जैसी भी चीज़ अपने बीचमें पैदा कर रखी है। और उसी दुनियामें मास्टर लोग भी हैं, जो डंडा दिखाकर बच्चोंको पढ़ा देंगे और आपसे रुपया लेकर पेट पाल लेंगे। और उसी दुनियामें एक चीज़ है प्रतिष्ठा। और भी इसी तरहकी बहुत-सी चीज़ें हैं। और फिर है ब्याह, जिसमें एक सास मिलती है और एक ससुर मिलता है।

वह माँ है, और उसके पेटकी कन्या है। पर इस दुनियाको लेकर वह झंझटमें पड़ जाती हैं। तभी नूनीको थप्पड़ मारकर अपनी गोदीसे दूर करके कहती हैं—पढ़!

और नूनी रोती है और पढ़ नहीं सकती।

और माँ कहती हैं—कम्बख़्त, पढ़।

तब लड़कीके पढ़ उठनेसे ही गुज़ारा होता है। या माँके जीमें आँसूकी भाप-सी उठ आनेपर भी गुज़ारा हो जाता है। तब वह कहती हैं—मास्टरजी, इसे तस्वीरवाला सबक पढ़ाना। और मास्टरजी, इसके मनके मुताबिक़ पढ़ाना।...

और फिर नूनीकी ओर जो देखती हैं, तो और कहती हैं—अच्छा मास्टरजी, आज छुट्टी सही। जरा कल जल्दी आ जाना।

माँ तो माँ है, पर लड़की तो सदा लड़की बनी रहेगी नहीं। माँके मनमें यही बात उठकर दर्द दे रही है। आज तो लड़की है, पर एक कल भी तो आ पहुँचनेवाला है, जब उसका ब्याह होगा, और लोग पूछेंगे, कितना पढ़ी है, क्या जानती है। तब उनके सामने यह बात किस तरह कहने लायक़ हो सकेगी कि मेरे बड़े दुलारकी है,

बड़े प्यारसे मैंने पाली है। तब तो खोजकर यही कहना होगा कि खूब काम सीखा है, और उस मास्टरसे इतना पढ़ी है, और वहाँ से यह पास किया है। उस कलके दिन आनेपर चुप नहीं रह जाय, बल्कि बहुत कुछ उस रोज़ कहनेके लिए और दिखानेके लिए उसके पास जमा हो—इसीके प्रबन्धमें तो वह है। वह माँ तो है, पर यह भी कैसे भूले कि इसीलिए है कि किसी अजनबीको खोजकर पाये और उसे, अपनी लड़की सौंप डाले। यह ज़िम्मेदारी वह बहुत कम क्षण भूल पाती है।

मैं लिख रहा था, उन्होंने आकर कहा—तुम तो देखते नहीं हो, और नूनी यों ही रह जायगी। पढ़ने-लिखनेमें उसका चित्त नहीं है। और तुम घरसे बैरागी बने हो। क्यों नहीं बुलाकर उसे ज़रा कुछ कहते ?

मैंने कहा—अभी छः बरसकी ही तो है।

'यों ही बीस बरसकी भी हो जायगी। . '

मैंने हँसकर कहा—यों ही तो बीस बरसकी कैसे हो जायगी। चौदह बरस बीच-के काट लेगी तब होगी।

'तुम तो यों ही कहते हो। मैं कहती हूँ, नेक उसका ख़याल भी रख लिया करोगे, तो कुछ तुम्हारा बिगड़ नहीं जायगा।'

मैंने कहा—अच्छी बात है—

'अच्छी बात नहीं है......'

मैंने कहा—अच्छा, अच्छी बात नहीं है—

होते-होते वह सचमुच बिगड़ने-सी लगीं।

मैंने कहा—तुम उसे नूनी फिर क्यों कहती हो ? नाम तो उसका सुनयना है। नूनी बनकर वह खिलवाड़ नहीं छोड़ सकती। और तुम कहना चाहती उसे नूनी हो, फिर चाहती हो, खेलना छोड़ दे। अर्थात् नूनी रहना छोड़ दे। तुम उसे नूनी रखना छोड़ दो, वह भी आप छोड़ देगी।

'हाँ मैं सुनयना नहीं, और कुछ कहूँगी !—तुम्हारी मत कैसी है कि उल्टे मुझे ही कहते हो, यह नहीं कि उसे नेक बुलाकर समझा देते।'

मैंने कहा—अच्छा, अच्छा, तुम चाहती क्या हो ?

उन्होंने कहा—मैं पाठशाला तो भेजना नहीं चाहती। अध्यापिका सब ऐसी ही होती हैं, बच्चेका नेक ख्याल नहीं रखतीं। और धमकायें मारें भी, इसका क्या ठीक है।

नहीं, बच्चेको मैं आँख-ओझल नहीं करूँगी। पर, एक पढ़ानेवाली और लगा दो। घरपर पूरे पाँच घण्टे उसे पढ़ना चाहिए।

मैंने कहा—पाँच घण्टे!

'तुम्हारा बस हो, तुम सारी उमर उसे खेलने दो।'

मैंने कहा—पाँच घण्टे बहुत होते हैं। एक घण्टा पढ़ लेना बहुत काफी है। यों अभी ज़रूरी वह भी नहीं है।

'तुम्हारे लेखे ज़रूरी कुछ नहीं है। सिर तो मेरे बीतती है।

मैंने कहा—अच्छी बात है, एक घण्टा मै पढ़ा दिया करूँगा।

'तुम पढ़ाकर रखोगे? यह होता तो दिन ही अच्छे न होते?'

मैंने कहा—समझो, अब दिन अच्छे आ गये। मैं पढ़ाऊँगा।

'पढ़ाना,—कहीं तमाशा करो—'

'जैसे पढ़ाऊँगा, पढ़ा दूँगा। यह काम तो मेरे ऊपर रहने दो।'

वह आश्वस्त और प्रसन्न होकर बोलीं—अच्छी बात है। मैं देख लिया करूँगी।

और वह चली गईं और मैं अपने काममें लग गया।

पर कुछ ही देरमें वह लौट आईं, और मेरे सामनेके कागज़ोंको सरका देकर मेज़के पास खड़ी हो रहीं। जिज्ञासा-भावसे मैं उनकी ओर देखकर रह गया।

बोलीं—तुम नाराज़ तो नहीं हो गये? देखो, नाराज़ मत होना। मैं क्या करूँ? मेरा मन कहता है, बिट्टनको खूब पढ़ाना चाहिए, और खूब अच्छा बनाना चाहिए। इसीसे मैं कहती हूँ।...

मैंने कहा—ठीक तो है।

'.. मेरे मन बिथा बड़ी होती है। तुम जानें, उसका ब्याह भी होगा। इसीसे मैं इतना कहा करती हूँ।'

मैंने कहा—ठीक तो है।

और सोचा, लड़कीको ब्याह देनेके वक्तकी व्यथाको इतने साल दूरसे खींच लाकर अपने मनमें आज ही प्रत्यक्ष अनुभव कर उठानेवाला स्त्री-माताका हृदय कैसा है?

* * *

सबेरे-ही-सबेरे कोलाहल सुन पड़ा। जान पड़ता है, यह हो-हल्ला फिर नूनीको

लेकर ही है। नूनी नहीं होती घरमें, तब सब चुपचाप अपने-अपनेमें ही रहते हैं, मानो उन्हें अपने कामसे और अपने निजसे ही मतलब है, एक दूसरेसे कुछ मतलब शेष नहीं रह गया है। नूनी न हो बीचमें, तो हम दोनों तकको आपसमें बात करनेके लिए विषयका अभाव-सा लगता है। नूनीको लेकर आपसमें बोल लेते हैं, झगड़ लेते हैं, मिल लेते हैं। इस तरह खाली-से हम नहीं रहते। दिन भरे-से-हुए बीत जाते हैं।

सुना, कहा जा रहा है—तो नहीं पियेगी, तू दूध ?

'नहीं पीते।'

'नहीं पीती ?'

'हम नहीं पीयेंगे !'

'देख लो, जीजी, यह तुम्हारी बेटीजी दूध पीती नहीं हैं।' यह ज़ोरसे कहा गया।

और दूर चौकेसे नूनीकी बुआने कहा—दूध पी ले बेटी। कैसी रानी मेरी बेटी है !

रानी बेटीने कहा—हमें रोज़-रोज़ दूध अच्छा नहीं लगता—

नूनीकी माँने कहा—रोज़-रोज़ खेलना तो बड़ा अच्छा लगता है !

बुआने चौकेसे आते हुए कहा—पी ले, बेटी, फिर खेलना।—और अपनी छोटी भौजाईको कहा—बच्चेको नेक प्यारसे कहो, सब मान जायगा।

'प्यारसे नहीं, मैं तो बड़े गुस्सेसे कहती हूँ ? लड़की इसीसे तो मुँह चढ़ी है।'

बुआने कहा—पी, बेटा, पी—

मैं अपने कमरेमें बैठकर यह सुनने लगा। मेरी बहन चली गई, और लड़कीने शायद दूध पीना आरम्भ कर दिया।

इतनेमें नीचेसे पड़ोसीके लड़के हरियाने आवाज़ दी—नूनी, ओ नूनी !

नूनीने कहा—आई !

नूनीकी माँने कहा—पहले दूध पी—(और कहा)—हरी, वह नहीं आयेगी।

हरियाने ज़ोरसे कहा—नूनी, अरी आई नहीं ?

इतनेमें मैंने सुना—बच्चोंको कड़ी ताकीदमें रखनेकी उपयोगिताके सम्बन्धमें भाषण आरम्भ हो गया है, जिसमें श्रोतृवर्गमें केवल बालकोंके पिता लोग ही जान

पड़ते हैं। और मेज़पर शायद एक बाल-मूर्ति भी है, जिसको भली भाँति डाँट-डपट-कर और मार-पीटकर भाषण, सामने-के-सामने, सोदाहरण परिपुष्ट किया जा रहा है।

मैं समझ गया, नूनी अनुशासनकी मर्यादाको, हरियाकी बाँसुरी की-सी आवाज़पर तोड़-ताड़कर अपने शिशु-अभिसारको संपन्न करनेके लिए भाग छूटी है। और मैंने जान लिया, अपने विक्षोभको खर्च कर डालकर स्वस्थ हो जानेके लिए, विवाद मोल लेनेको मेरी पत्नी अब फिर बहनके पास पहुँच गई है। और जो वहाँ होना आरम्भ हो गया, उसकी स्पष्ट ध्वनि भी मेरे कानोंपर आकर थप्पड़ों-सी बजने लगी।

मैं उस ओरसे उदासीन होकर बाहर छज्जेपर आ गया, और गली देखने लगा।

नीचे देखता हूँ, इस चौबीसों घण्टे चलनेवाली पत्थरकी गलीको तो ये बालक लोग भरा-समन्दर बना बैठे हैं, और इस समन्दरमें अकेली खड़ी हुई नूनी नामकी मछली झुककर अपने टखने छूकर, कह रही है—'इत्ता !'

पर, मुझे तो कुछ भी मालूम न था। मछलीका नाम नूनी तो नहीं है, गोपी-चन्दर है, और हरियाके साथ और पाँच-सात जने मिलकर, किनारे खड़े-खड़े कह रहे हैं—

'गोपीचन्दर, भरा समन्दर,

बोल मेरी मच्छी, कित्ता पानी ?...'

और गोपीचन्द्र जैसे सुन्दर नामवाली मीन अबकी घुटनोंतक ही झुक सकती है, क्योंकि समुद्र इस बीच घुटनों तक बढ़ आया है, और बतलाती है—इत्ता !

समुद्र क्षण-क्षण बढ़ रहा है, और उस मछलीके मनकी चौकसी भी बढ़ रही है। वह देख, जो अबकी गाकर और चिल्लाकर पूछा गया है 'कित्ता ?' तो वह दोनों हाथों-को कटिपर रखकर, एक ठुमकी लगाकर बतला रही है, 'इत्ता।' हाय-हाय, देखो, उस बेचारीके कटितक समुद्रका पानी आ गया है, वह सिरतक डूबनेको होती जा रही है।—

और मुसाफ़िर भाई, तुम बेखटके इस गलीमेंसे निकलते चले जाओ। तुम्हारे लिए रोक-टोक नहीं है। पानी तुम्हें नहीं छुयेगा। किनारे खड़े वे जो ऊधम करते हुए लड़के-लड़कियाँ हैं, सो ये अब शरारत करके समन्दरपर हमला करनेवाले हो रहे हैं, और गोपीचन्द्र नामकी अकेली मछली ही अपने राज्यकी रक्षा करनेके लिए कटि-बद्ध हुई गलीके बीचमें खड़ी है। मुसाफिर, तुम झटसे निकलते हुए चले जाओ, नहीं तो ये लोग समन्दरमें घुस पड़ेंगे, तब वह कुछ नहीं जानेगी, एकाधको जरूर पकड़

लेगी, और तब उसे उसीकी तरह गोपीचन्द्र नामकी मछली बनकर समन्दरमें रहकर पहरा देना होगा ।

और उनको भी तो देखो। कैसे उल्लसित बाट देख रहे हैं कि पानी उस समन्दरकी रानीके कानतक आया नहीं कि वे हुकूमतकी स-धूमधाम अवज्ञा करके समन्दरमें घुस पड़ेंगे और ज़ोर-शोरसे मल-मलकर नहा डालेंगे।

पर, मत समझो, रानी चौकन्नी नहीं है। उसके राज्यमें पैर रखकर देखो तो—। वह एक-एकको ऐसा पकड़ती है कि हाँ।

सबने पूछा—मच्छी-मच्छी, कित्ता पानी ?

मच्छी-रानी एकदम अपने दोनों तरफ़ देखती हुई सतर्क हो रही। वह सबको खूब अच्छी तरह ताड़ रही है—

उसने कानतक हाथ बढ़ाया, कहा—'इत्ता।'

और सब धम्म-धम्म गलीके पत्थर कूदकर बदन मलते हुए नहाने लगे।

मच्छी रानी हँसती हुई इन चोरोंको पकड़नेके लिए दौड़ने लगी।

वह पास आती कि नहानेवाले उछलकर किनारे हो रहते। बेचारी मछली, पानी छोड़, किनारेकी खुश्कीपर कैसे पैर रख सकती !

पर, सामनेको दौड़नेवाली होकर जो एकदम मुड़कर पीछे लपकी कि एक कुर्त्तेका छोर मुट्ठीमें आ गया। रानी चिल्लाई—'पकड़ लिया' और हँसती हुई हाँफने लगी।

श्री० हरिश्चन्द्र इस चोर-कार्यमें युक्त पकड़े गये। और पकड़े जाकर वह भी निर्लज्ज हो हँसने लगे।

नौकरने नूनीका हाथ पकड़कर कहा—चलो, बहूजी बुलाती हैं।

नूनीने हाथ छुटाकर कहा – नहीं जाते।

नौकरने छूटा हुआ हाथ ज़ोरसे पकड़ लिया।

वह मचल पड़ी—हम नहीं जायँगे, नहीं जायँगे !

खेल भंग हो गया।

मैंने ऊपरसे कहा—छोड़ दो।

नौकर छोड़कर चला गया।

मैं अपनी मेज़पर आ गया।

खेल फिर अवश्य आरम्भ हो गया होगा।

बहूजीने पूछा—कहाँ है ?

नौकरने कहा—आती नहीं—

बहूजीने कहा—इसीलिए तुझे भेजा था ? कहे, आती नहीं ?

नौकर—बाबूजीने मने कर दिया ।

'कौन बाबूजी ?'

नौकरकी कुछ आवाज़ न आई ।

'बाबूजी कौन होते हैं !—तुझसे मैंने कहा था या और किसीने कहा था ?—चल, ला उसे ।'

नौकर बाहर आया, और मैंने छज्जेपर पहुँचकर फिर कह दिया—रहने दो, छोड़ दो ।

लड़की सहमी, और फिर खेलने लगी ।

नौकरने मेरी ओर देखा—बाबूजी !—

मैंने कहा—तुम जाओ, कुछ बात नहीं है ।

नौकर लौटकर आ गया । उसकी बात बहूजीने चुपचाप सुन ली । कुछ भी उन्होंने नहीं कहा । उन्हीं कपड़ों बाहर आईं, रोती-पीटती नूनीको खचेड़ती ले चलीं ।

भीतर आकर बोलीं—तेरे बाबूजी अब आकर रोकें न मुझको !

मैंने सुन लिया और मैं कमरेसे निकलकर उनके सामने नहीं जा पहुँच सका ।

नूनीको एक कोठरीमें मूँद दिया गया ।

* * * *

मूँद तो दिया गया, पर मुँदा रहने दिया जाता कैसे ? क्योंकि माँने बेटीको मूँदा था । और क्या मैं जानता नहीं कि इस बीच वह माँ रो भी ली खूब ? बहुत था, जो बह जाना था । लेकिन मैंने खाना न खाया, और शामको भी न खाया ।

वह क्या गज़ब किया मैंने ?

क्योंकि जब मैंने कहा—मैंने लड़कीका एक घण्टा पढ़ानेको लिया है । मेरी यही पढ़ाई है । अब तुम इसमें दखल देने नहीं पाओगी । तब उसने आँसुओंसे सब कुछ, सब कुछ, स्वीकार कर लिया ।

पर चौथे रोज वह मायके चल दीं ।

* * * *

वह आ गई हैं, और मेरी बात सब झट मान लेती हैं।

पर हाल वही है। क्योंकि लड़कीको पढ़ना है और पिटकर दुबली होगी, तो डाक्टर हैं, और डाक्टरके लिए पैसा है,—पर, लड़कीको पढ़ना है।

मैं कहता हूँ—अच्छा, बाबा।

और अकेलेमें नूनीसे मच्छी-मच्छी खेलना चाहता हूँ। और नूनी खेलती नहीं, मुझसे किताबके माने पूछती है।

आलोचक १७

वीरेनने आकर कहा—आप चलते नहीं हैं ?

मैंने कहा—कहाँ चलना होगा ?

"—कान्फरेन्समें नहीं चलिएगा ?"

यह उसने इस तरह कहा, जैसे पूछता हो – बाज़ार नहीं चलिएगा ?

वीरेन अच्छा लड़का है । पर अपना पढ़ना उसे याद है । एम० ए० पास कर गया है, और थोड़ी-बहुत अविनयसे डरता नहीं है ।

कान्फरेन्स बाज़ारकी दूकान नहीं है । इसमें तमाशबीन या ग्राहककी वृत्तिसे जाना ठीक जाना नहीं है । लेकिन वीरेन ऐसा ज्ञानी है कि आलोचक बने बग़ैर उससे रहा नहीं जाता । आलोचनाका काम सरल नहीं है । पर, वह काम उत्पादक भी नहीं है । मैंने कहा—वीरेन भाई, आज किस कान्फरेन्समें जाना होगा ?

वीरेन बोला—आज अच्छी चीज़की कान्फरेन्स है । सोशलिस्ट कान्फरेन्स है । और वहाँ यह बात नहीं है कि सब देशी नागरी बोलनेवाले मिलें । वहाँ पढ़े-लिखे लोग भी आयेंगे, जो अँगरेज़ीमें बोलेंगे और सेन्स बोलेंगे ।

मैंने मिर्ज़ई बदल ली, सोटा लिया और कहा—अच्छा भाई, चलो । हम अँगरेज़ी जानते हैं, सो उसका दण्ड भी तुम्हारे साथ भुगतना होगा कि कान्फरेन्समें जायँ और सुनें ।

वीरेन हर विषयपर कुछ कथन रखता है । वह राय अपनी बनाता है । जो समझमें नहीं आती, चाहे वह बाबाकी बात हो, चाहे गुरुकी, चाहे शास्त्रकी, वह हिम्मत रखता है कि उसे अस्वीकार कर दे । मैंने कहा—वीरेन, तुम तो संस्कृत भी जानते हो, हिन्दीके लेखक भी हो । सोशलिस्टके लिए कोई हिन्दी शब्द तो बनाओ । अन्यथा सोशलिस्ट शब्दके भावके मूलतक हमसे नहीं पहुँचा जाता ।

वीरेनने कहा—समाजवाद, साम्यवाद—ये शब्द तो हैं । हाँ, सोशलिज़्मसे अल-

बत्तह यह हलके हैं। और पण्डितजी, आप तो अँगरेज़ीके इतने बड़े पण्डित होकर मेरा मज़ाक करते हैं।

पर मज़ाककी बात नहीं थी। अँगरेज़ी शब्दकी मूल प्रकृति हमारे निकट कुछ परदेशो-सी ही रहती है। यों, अँगरेज़ो बोल-लिख लेते हैं तो क्या।

हमने पूछा—क्यों भाई, तुम सोशलिस्ट हो?

वीरेनकी मौज यही है कि वह श्रद्धापूर्वक कोई मतावलम्बी नहीं है। उसने कहा—नहीं साहब, मैं किसी इज़्ममें नहीं हूँ। मैं बँध नहीं सकता। हरएक इज़्म मेरे लिए एक साइंस है। और सोशलिज़्म! हा-हा! आप जानते हैं क्या? एक बार एक विद्वान् सोशलिस्ट मिले, तब बात करते हुए मैंने कहा—तुम धोती-बण्डीके ऊपर और घुटे सिरपर एक बहुत बड़ा, बहुत ऊँचा और बहुत अच्छा हैट पाकर जमा लो, और कहते-कूदते फिरो कि देखो, क्या बढ़िया हैट है, तो हैटका बढ़ियापन मालूम होनेसे पहले लोगोंको तुम्हारी अक्लका बढ़ियापन ही मालूम होगा। हैट प्रशंसनीय होकर भी तुम उपहास्य होगे। यह सुनकर मेरे प्रतिपक्षी सोशलिस्ट महाशय बड़े खफ़ा हो गये।

मैंने कहा—वीरेन, तुम किसीके प्रयत्नको दूकानदारोके अलावा क्या कुछ और नहीं समझ सकते! क्या नेकनीयतीका श्रेय किसीको देना तुम्हारे लिए दुष्कर है? व्यक्तिका आदर तुम्हारे लिए कठिन है!

वीरेनने तपाकसे कहा – पण्डितजी, वे लोग पुराने होंगे, जो ईमानदार होते होंगे। अब ईमान उत्तर है तो सफलता दक्षिण। यह कान्फरेन्सें, यह सोशलिज़्म, यह कांग्रेस, यह देशभक्ति—सब बातें हैं। सब शग़ल, सब व्यवसाय।

वीरेन जब इस तरहकी बातें कहता है, तब लगता है कि उसने दुनियाके भीतरके तत्त्वको पा लिया है। जैसे दुनियाकी नस-नस उसने देख ली है। हमें साठ बरसके होनेपर भी ऐसा अविश्वास करना नहीं आया। और वीरेनकी क्षमता देखो कि भरी जवानीमें विश्वासको धता बतला सकता है। उससे ईश्वरकी बात करके देखो, और वह झट बता सकेगा, किन चालाक आदमियोंकी चालाकीका प्रतीक यह ईश्वर खड़ा है, और कैसे यह ईश्वर रग-रग में मिथ्या है।

* * *

सड़कपर चल रहे थे कि पाससे एक बढ़िया इक्का गुज़र गया। (यह पटनेकी बात कहता हूँ।) घोड़ेके सिरपर कलगी लगी थी, गर्दनमें बसन्ती दुपट्टा बँधा था, माथेपे

बड़ा लाल टीका। इक्का फैन्सी था और जगह-जगह लगी हुई पीतल चमचमा रही थी। सरपट चालसे वह निकला और हमारी आँखें अनायास उसकी ओर उठीं। दो स्त्रियाँ उसपर बैठी थीं। स्त्रियाँ कहूँ या रमणियाँ! उम्र दोनोंकी बीसके लगभग होगी। रंग साँवला, आकृतिमें बुद्धिप्राचुर्य न था। खादीकी केसरिया साड़ी थी और कत्थई पाड़। सिर तीन-चौथाई खुला था और बाल घने होकर फैले थे। एककी ओर मेरा ध्यान विशेष रूपसे गया। अगले हाथकी हथेलीपर अपना सारा बोझ दिये वह उन्मन, प्रगल्भ ऐसी बैठी थी कि उसे न दुनियाकी परवा है, न दुनियाके कहनेकी। दुनिया है तो हो, रहे, उससे उसका कुछ नहीं अटका है। आँखें उसकी भरपूर खुली थीं। माथे-पर एकाध बल था। और जैसे उस त्योरीका सम्बन्ध किसी वस्तु-विशेष या परिस्थिति-विशेषसे न था, प्रत्युत् मानो वह ब्रह्माण्ड-भरके लिए था, और किसीके लिए न था।

इक्केवाला, जिसका साफा बूँदीदार था और पहलवानी तरीकेसे बँधा था, पैरकी घंटी बजाता हुआ, कोई तराना गुनगुनाता, सरपट, बेखटक इक्केको लिये जा रहा था।

यह दृश्य मेरे मन प्रीतिकर न हुआ। वह भीतरको सकुँच-सा आया। जीमें ग्लानि-सी हुई। यह खद्दरधारिणी महिलाएँ हैं? ये देश-सेविकाएँ हैं? ये कहाँ जा रही हैं? ये क्या चाहती हैं? सबको क्या पैरों-तले देखे बिना इन्हें चैन नहीं है? क्यों ये विजयकी चाहके पीछे ऐसी परेशान हैं!

वीरेनने कहा—देखा आपने?

मैं चुप रहा। मैंने देखा था, लेकिन मेरे लिए यह वाचाल होनेकी बात न थी।

वीरेन बोल उठा—उसने स्त्री-शिक्षापर बहुत-कुछ कहा। उसे खेद न था। वह राष्ट्र को धन्यवाद दे सकता था कि स्त्रियोंमें जागरण हुआ है; कि स्त्रियाँ पुरुषको चुनौती दे सकती हैं; कि वह निर्भीक, निःशंक, हाँ निर्लज्ज भी होकर, अपनी अहंता-का सिक्का जमाने सामने आई हैं।

वीरेन चाहे जो कहे, मेरा जी भीतर-भीतर छोटा हो रहा था। स्त्रियाँ लंगर कसकर पुरुषसे बदने मैदानमें आना चाहें, तो बेशक क्यों न आयें? रोकनेवाला मैं कौन? लेकिन वे खम ठोककर बदाबदी करने आना चाहें, इसीपर मुझे क्लेश होता है। वह परिस्थिति नहीं भली है, और वह मनोवृत्ति नहीं शुभ है, जहाँसे यह चाह बनकर उठती है।

वे लड़कियाँ !—और मेरे लिए स्त्रियाँ सब लड़कियाँ हैं। उम्रमें बहुत अशक्त हूँ, इसलिए नहीं। पर कौन स्त्री ऐसी है, जो बच्ची नहीं है? स्त्रीमात्र बच्ची है, छोटे-छोटे झूठोंसे खेले बिना उसका जी आधा रहता है। वह सदा बेचारी है, मुझे उसपर अनुकम्पा होती है। वे लड़कियाँ !—मैं याद करता हूँ, और मेरा मन सिकुड़ता-सा है।

शिक्षा यदि विनीत न बनाये, तब भी क्या वह मिलनी ही चाहिए? तब भी क्या वह शिक्षा है? जो उलझन पैदा करे, वह भी शिक्षा है? जीवन सरल न बने, सुलझा न बने, व्यर्थताके आडम्बरका लालच रहे और बढ़े, तो वह शिक्षा है?

इसी तरहकी बहुत-सी बातें मैं सोच गया। मुझे मालूम हुआ, हम बढ़ नहीं रहे हैं, गिर रहे हैं। और इस तरह यह खुले मुँह और मुखरबुद्धि, शिक्षिता कहलानेवाली हमारी लड़कियाँ इसका प्रमाण हैं।

* * *

पर, कान्फरेन्स…

कान्फरेन्स हुई और भाषण हुए और प्रस्ताव हुए और मैं दंग रह गया। वक्ता लोग धारा-प्रवाह वक्तृता दे सकते थे, और यह बात तनिक उनकी अँगरेज़ीमें हिचक न डाल पाती थी कि सुननेवालोंमेंसे आधेसे अधिक लोग अँगरेज़ी नहीं समझते। और वे आधेसे अधिक लोग भी मुग्ध और विश्वस्त थे कि बात मर्मकी और ज्ञानकी कही जा रही है, क्योंकि वह अँगरेज़ीमें है। मैं अँगरेज़ी जानता हूँ, लेकिन कान्फरेन्समें लोग भूलकर भी बात नहीं करते थे, भाषण ही करते थे और मुझे ऐसा मालूम होता था कि उनके मुँहमेंसे पुस्तक शुद्ध और साफ बोल रही है, हृदय नहीं बोल रहा है।

वीरेनने कहा—पण्डितजी, सुनिए। बात तारीफ़की यह है कि बात बड़ी नहीं है, फिर भी बोला किस बड़प्पनके साथ जा सकता है।

मैंने कहा—यहाँ भीड़ बड़ी है। दम घुट आया, चलो, बाहर चलें, कुछ जलपान करेंगे।

और मैं बाहर आ गया। वीरेन व्याख्यान सुनता रहा। बाहर आकर मैंने खुली साँस ली। हवामें वक्ताओंकी वाणी-सा जोश नहीं था, और मुझे यह प्रीतिवर्धक जान पड़ा।

इतनेहीमें दो कालेजके-से लड़कोंने मेरे पास आकर विनयपूर्वक प्रणाम किया। उन्होंने कहा—पण्डितजी, आइए ; चलिए, अन्दर बैठिए।

मैंने कहा—मैं अभी अन्दरसे आया हूँ, कहो ; तुम लोग प्रसन्न तो हो ?

इतनेमें एक तीसरा व्यक्ति एक कुरसी उठा लाया, कहा—पण्डितजी, इसपर बैठिए।

मैंने कहा—भाई, कष्ट न करो, हम ठीक हैं।

युवकोंने पूछा—पण्डितजी, आपकी क्या सम्मति है ? सोशलिज़्मके बिना कुछ हो सकता है ?

हमने कहा—भाई, हम पहले समझते थे, ईश्वरके बिना कुछ नहीं हो सकता। अब वह बात ग़लत होती जाती है। जो खूब करने-धरनेवाले हैं, वे ईश्वरपूर्वक तो कुछ नहीं करते हैं। इसलिए अब हम क्या कहें कि किसके बिना क्या नहीं हो सकता।

युवकोंने बताया—जनसंख्याका पिचानवे प्रतिशत अंश क्या है ? निर्धन, मज़दूर, कृषक। मनुष्य-जातिका भला, यानी इनका भला। जिसमें इनका भला नहीं, उसमें अवश्य मनुष्य-जातिका अकल्याण है। इसलिए अधिकार किसका हो ? शासन किसका हो ? सरकार किसकी हो ? बुद्धि-जीवियोंकी नहीं, धनाढ्योंकी नहीं। काम करनेवालोंके हाथमें पैसा हो, उन्हींके हाथमें ज़मीन, उन्हींके हाथमें कानून बनाना और उन्हींके हाथमें क़ानून पालन कराना,—यह सोशलिज़्म चाहता है। कोई भी नेकनीयत आदमी यह चाहनेसे कैसे बच सकता है, क्यों पण्डितजी ?

मैंने कहा—ठीक है, बेटा। हम यहाँ ज़रा हवाके लिए आ गये हैं। हमें किसी बातकी आवश्यकता नहीं है। तुम लोग हमारे पीछे व्याख्यान सुननेमें क्षति डालना आवश्यक न समझना।

उन्होंने कहा—नहीं ; नहीं, पण्डितजी।

और वे फिर मुझसे चाहने लगे कि मैं कहूँ, सोशलिज़्म मिथ्या है; नहीं तो मानूँ, सोशलिज़्म मोक्ष है।

मैंने कहा—देखो भाइयो, बहुत-से 'इज़्म' हैं। या तो मनुष्य इज़्मोंके ऊपर है, या नीचे है। नीचे है, तो वह गुलाम है। और गुलामीसे आदमीको छूटना चाहिए। ऊपर है तो यह अर्थ कि इज़्म एक वाद है, अपेक्षा-कथन है, और मनुष्यको उस अपेक्षाको न भूलना चाहिए, तो उस वादमें प्रतिफलित है।

उन्होंने ज़िद की कि मुझे प्रश्नसे बचना नहीं चाहिए, और मुझे बताना होगा कि मैं सोशलिस्ट हूँ या नहीं हूँ।

मैंने कहा कि मैं आदमी अपने ढंगका रहना चाहता हूँ। इसलिए सोशलिस्ट भी अपने ही ढंगका होऊँगा। किताबमें जो नियुक्त है, उस साँचेका सोशलिस्ट शायद मैं न होऊँ।

वे जवान लोग मुझसे एकदम उलझना चाहते हैं। और दलीलमें, मुझमें कट्टरता नहीं है इससे, मुझे जीतका भरोसा नहीं रहता। मैं इसलिए दलीलसे बचता हूँ। मैंने इधर-उधर देखा कि कहीं कुछ खाने-पीनेका साधन है या नहीं। इस तरह मुझे उखड़ा हुआ-सा देख जवान लोग मुझे धीरे-धीरे अकेला छोड़ गये।

तभी मैंने देखा, कान्फरेन्सके हालको बाईं तरफ़से वही दो लड़कियाँ चली जा रही हैं। चाल अनमनी है, और चेहरेपर वही उपेक्षाका भाव है। मानो वे किसी निर्जन स्थानमें घूम रही हैं। आस-पास तरह-तरहके आदमी हैं, तरह-तरहके रंग हैं, मानो इससे उन्हें कुछ वास्ता न था, इसका कुछ बोध न था।

मेरे मनमें वही वितृष्णा फैलने लगी। फीकापन-सा छा आया और वैसे ही अप्रीतिकर विचार उठने लगे।

पैरोंमें उनके चप्पल थी, सिर उघढ़ा-सा था, धोती सादी और भारी थी, मुँहपर उदासी और अँधेरा। और सारी आकृति और चालमें कुछ ऐसा फक्कड़पन और अल्हड़पन था कि मुझे बिलकुल नहीं भा रहा था। जैसे उनकी रुचि-योग्य न मैं हूँ, न कोई और है। जैसे उन्होंने अभीसे सब देखा और सब हेय है। जैसे वे स्वयं स्त्री हैं, यह विश्वपर कृपा है। और वे इस कृपाका दान भी कर सकती हैं, पर जगतमें पात्रता नहीं है। पर देखो, किसीसे उनका लगाव नहीं, किसीसे वास्ता नहीं, किसीकी तरफ़ ज़िम्मेदारी नहीं, कोई कर्तव्य नहीं। जैसे छूटी जंगली गायें हों।

मैंने चाहा, मैं उनकी ओरसे मुँह फेर लूँ। उनको देखकर जीका चैन उड़ता था। मैंने देखा, दूसरी तरफ खोमचेवालोंकी दुकानें हैं। उनके फैले मालकी तरफ़ देखना अच्छा लगता है। वहाँ कुछ है, जो सुस्वादु है, और मानो हमारा स्वागत करता है। लेकिन मेरा मन, हठकर, उधर-ही-उधर जाता था। हठात् मैंने मुड़कर देखा—वह निरुद्देश्य, निर्व्याज, निश्शंक, निर्लज्ज उसी भाँति घूम रही थीं। वे कुछ दूर आती थीं, फिर लौट जाती थीं; फिर आती थीं, फिर लौट जाती थीं।

···क्या ये यों ही हैं ? क्या इन्हें कुछ काम नहीं है ? क्या इन्हें घर प्राप्त नहीं है, कि कुछ झाड़ू-बुहारी करें, चौका-बासन करें ? क्या इन्हें कोई और प्राप्त नहीं है जिसकी सेवा-टहल करें, परिचर्या करें ? क्या सेवा-कर्म इन्हें दुर्लभ है ? क्या रोटीसे ये बेफ़िक्र हैं ? इस प्रकार देखना और घूमना—क्या यही इन्हें शेष है ?...अरे, ये क्यों नहीं अपने घरमें हैं ? क्यों इस तरह यह निष्प्रयोजन बनी हैं ?···

तभी स्थानीय पब्लिक कालेजके एक प्रोफेसर बढ़ते हुए आये। उन्होंने कहा—वाह पण्डितजी ! आप भी पधारे हैं ? आइए, आइए, अन्दर बैठिए।

हमने कहा—हम बाहर ही ठीक हैं। और बातचीत होने लगी।

प्रसंग-प्रसंगमें उन्होंने पूछा—आपने ताजी खबर सुनी है ?

हमने बताया—हमने नहीं सुनी। कोई भी खबर जब तक ताजी रहती है, हमारे पास तक आना कभी गवारा नहीं करती। हम तो इस दुनियाँमें कई दिन लेट होकर जिया करते हैं।

प्रोफेसरने बताया—धरणीको आज सबेरे फाँसी लग गई ? हिन्दुस्थानके जीकी चोटकी किसे फ़िकर है ? सब कोशिश, सब प्रदर्शन, सब अरदास व्यर्थ हुई।

मैं सुनकर सन्न रह गया। यह नहीं कि हमारे प्रान्तका हर व्यक्ति महीनोंसे धरणी की फाँसीकी खबर सुननेके लिए तैयार न रह रहा था। फिर भी जब वह एकदम घटित घटना बनकर आई, तब उसकी भीषणता बेहद चोट देकर लगी। धरणी मुझसे पढ़ चुका था और अच्छा छात्र था।

बात-बातमें फिर प्रोफेसरने बताया—देखिए, वे दो स्त्रियाँ दीखती हैं न, जानते हैं, कौन हैं ? इधरवाली उसकी पत्नी है, दूसरी उसकी बहिन। दुनियाँमें अब उनका कौन रहा है !

मेरे मनपर जैसे वज्र पड़ा।—धरणीकी पत्नी और बहिन !

...और, मैं कह दिया करता हूँ, वीरेन आलोचक है !

नादिरा १८

हम तीन काश्मीरके लिए चले। मैं, श्यामजी नारायण एडवोकेट और हृदयनाथ।

श्यामजीभाई प्रतिष्ठा, पैसे और कुनबेके भरे आदमी हैं। हृदयनाथ हृदयका और कुलका रईस है और उसे बुद्धिमान् होनेकी तनिक भी चिन्ता नहीं है। खुले दिल, खुली बात और खुले हाथका आदमी है।

रावलपिण्डी आनेपर मालूम हुआ कि इस साल सर्दी ज्यादा है और अभी काश्मीर जानेके दिन नहीं हैं। वहाँ बरफ़ पड़ती होगी।

तब श्यामजी नारायणकी सम्मति हुई कि इतने पन्द्रह बीस रोज यहाँ ही ठहरा जाय। पास ही अटक है, तक्षशिला है। उन्हें देखा जा सकता है। पुरानी जगहें हैं। तक्षशिलामें तो गड़ा नगर ही खुद निकला है।

मुझे बासी लोगोंके इतिहाससे चिढ़ है। यह बासी इतिहास जिन्दगीके किस काम आता है! इतिहास पढ़कर बहुत कम लोग जीवनके साथ उसका तारतम्य बैठाते हैं। बहुत कम पुरानी बातोंको इसलिए जानते हैं कि उनसे आधुनिक बातोंका सामंजस्य और साम्य सिद्ध किया जाय। इतिहास सिरमें भर रखनेकी ही चीज़ है क्या? क्या इतिहास वह चीज़ नहीं है, जिसे पचानेकी भी ज़रूरत है? भीतर पहुँचे, पके, गले और जीवन-रक्त बनकर हमारी धमनियोंमें प्रवाहित हो, क्या यह जरूरी नहीं है? पर इतिहास और इतिहासके कंकालकी ठठरियोंमें खूब जान-पूछ और खोज-बीन करने वाले लोग इतिहासको भोजन बनाते ही नहीं, लादे रखनेको बोझका गट्ठर-सा बना लेते हैं। वह मानो आलमारियों और दिमागके कोनोंमें जमा रक्खा रहनेवाला शास्त्रीय पदार्थ है। वह उनको सप्राण नहीं बनाता, बोझल करता है। इससे इतिहासज्ञ और इतिहासार्थीसे मेरी उलझ पड़नेकी इच्छा होती है।

मैंने कहा—काश्मीरमें बरफ पड़ती है, तो और भी भला है। तब तो जरूर ही चलना चाहिए। यही देखनेका तो मजा होगा।

एडवोकेट धीमेसे मुस्करा दिया। मानो कि बुद्धिमत्ता मेरी बातके साथ यही कर सकती है—सविनोद उपेक्षासे जरा हँस ही सकती है।

मैंने कहा—कहो हृदयनाथ, तुम क्या कहते हो? हिमालय तक्षशिलासे पुराना नहीं है? हिमालयके शीर्षपर और देहपर और उससे भी कहीं अधिक उसके हृदयमें इतिहाससे कहीं गभीर रहस्य और विलक्षण वैचित्र्य नहीं है? हम सब सर्दीसे और बरफ़से डरते हैं। हम क्यों प्रकृतिके उस स्वरूपसे भयभीत होकर वंचित रह जायँ, जो हमने कभी पाया नहीं, पर जो अवश्य रहस्यमय है, विराट् है।

हृदयनाथने कहा—छोड़ो श्यामबाबू, न तक्षशिला चलो, न काश्मीर चलो। पहाड़ीकी तलहटीके किसी गाँवमें चलो। सूखे मैदानसे भी अलग होंगे और पहाड़की तुम्हारी भीष्मता भी पास रहेगी। जब सर्दी सर्दी है और हम ऐसे हैं कि हमारे बद-नको वह लगती है, तब कोरी उत्सुकतामें पड़कर उसमें झुक पड़ना नादानी है।

मैंने कहना चाहा कि तुम सब लोग भीरु हो। प्रकृतिको खेलने दो और उसके सब खेलोंमें उसका साथ देने लायक अपनेको बनाओ। घबड़ाओ मत और सबमें सौन्दर्य निहारो। लेकिन मैंने कुछ कहा नहीं और देखने लगा कि एडवोकेट क्या कहते हैं। हृदयनाथने भी उनकी तरफ देखा।

एडवोकेटने मानो "अँह, सब ठीक है—तुम बच्चे हो, तुम्हारी बात ही सही" इस भावसे कहा कि भाई, श्यामबाबू क्या कहते हैं, उनसे भी तो पूछो। और यह कहकर वह फिर मुस्कराए।

मैंने कहा—मैं कहता तो यही हूँ कि काश्मीरके हरियाले और श्यामल वसन्ती रूपपर हम मुग्ध हैं, तो जब धौली हिमकी चादर ओढ़े वह निराभरण हो जाती है, तब हम उसकी ओरसे विमुख न हों। इतिहास और पुरातनका लगाव हम छोड़ें, विराट्, उज्ज्वल और अधुनातनके प्रति निर्भीक बनें, उसका स्वागत करें, यों जैसी आपकी इच्छा!

एडवोकेटने कहा—श्यामबाबू, आप तो पूरे कवि हैं। और वह कहकर मानो उन्होंने स्वीकार किया कि मैं सहानुभूतिका पात्र हूँ।

हृदयनाथ गंगा गए तो उसका दास है, जमनाके पास जमनादास है हो। जमना

जानेपर गंगाकी भक्ति उसे आड़े नहीं आती और गंगा पहुँचकर, जमना आप-ही-आप पीछे पड़ जाती हैं। दुनियामें निरे-निरे सदाशय और सत्प्रार्थी आदमीको ऐसा ही होना होता है। उसे सबकी बातोंमें कुछ सच दिखलाई देता है। तब स्पष्ट ही है कि प्रबलकी बात अधिक सच लगती है। क्योंकि ऐसा न होता तो प्रबलके प्रबल होनेका अवसर ही कैसे आता?

उसने कहा—हाँ, श्यामबाबू, आप कविता क्यों नहीं किया करते? करें तो आप कमाल करें।

मैंने कहा – 'अच्छा, अच्छा,' और मालूम करना चाहा कि अब कहाँ जानेकी ठहरती है।

पूछ-ताछ करनेपर पास ही एक गाँव मिला। वहीं जाना तय हुआ। वह बिलकुल पहाड़के चरणोंमें बसा है, सुन्दर है, और वहाँ जलकी और वनस्पतिकी खूब ही बहार है।

* * *

गाँवके दायें तटसे पहाड़ एकदम ऊँचा उठा चला जाता था। उसकी चोटीकी तरफ़ देखते डर लगता था। एक पहाड़की चोटी ऊपरसे टेढ़ी हो गई थी। ऐसा लगता था – अब गिरी, अब गिरी। वह किस भाँति यों धरतीके प्रति पचहत्तर अंशका कोण बनाये अधरमें लेटी थी, विधाता जाने। रातको काला-काला अँधेरा-सा वह पहाड़ गुम-सुम खड़ा हमें न-जाने क्या समझता रहता होगा। हम दिया-बत्ती जलाकर, आगपर रोटी सेंककर, बातचीत करने और चलने-फिरनेवाले प्राणी, उसके चरणोंमें जो रहे थे। भीतरसे जो पत्थर-पत्थर है, पर ऊपरसे हरियाली ओढ़े है; जिसमें पानीकी रजतधाराएँ लहराती हुई खेलती हैं; और जिसकी देहपर जाने कितने प्रकारके विषधर और अमृत-प्राण प्राणी और नाना गुणों और रहस्योंको धारण करनेवाली जड़ी और बूटियाँ, कँटीले झाड़ और फूलोंसे लदी झाड़ियाँ हैं; जो अनन्त वैचित्र्य, अनन्त-प्राण, अनन्त-कथा, अनन्त-इतिहास और अकल्पनीय मानव-मूल्यको लेकर चुपचाप आकाशकी ओर माथा उठाए खड़ा रहता है—उस पहाड़पर मैं सबेरे भी चढ़ने लगता था, शामको भी चढ़ता था।

मैं चढ़ता था और विस्मयसे भर-भर जाता था। इस पहाड़की बनावटमें कोई गणित न था और न ज्यामिति-शास्त्रसे कोई परामर्श लिया गया था। गड्ढा कहीं भी

बन सकता था और कोई पत्थर कहींसे भी उभर आ सकता था। जिस झाड़ीको जहाँ जगह मिले लग जाए, कोई रोक-टोक न थी। और पानी मन चाहे जहाँसे स्रोत फोड़कर खिल-खिल हँसता निकल आ सकता था!

जिसका सौन्दर्य हमारी व्यवस्था और सज्जाकी परिभाषाकी तौलमें कहीं अपरिमेय है, जिसकी विराटताके नीचे हम कीड़े-से लगते हैं, जो हमें अपनी छायामें आच्छन्न कर लेता है, जो पत्थरका है, पर पानी झरता रहता है, जो माप पर नहीं बना है, पर जो हमारी माप-विद्याको अपने गहन सौन्दर्यसे विस्मित कर देता है, जो अचल है, पर विशाल है; दृढ़ है, पर हरा है; रात-सा काला है और आसमान-सा नीला है—मैं उस पहाड़को देखता हूँ और सोचता हूँ—इसमें जो नहीं है ? यह मुझसे बात क्यों नहीं करता ? मुझे क्यों इसकी नीरव भाषाकी कुंजी प्राप्त नहीं है ?

देखता—छोटी-छोटी गायें, सफ़ेद, काली और भूरी; छोटी-बड़ी बकरियाँ झबरीली, चितकबरी और रंगीली; खुट-खुट पाँव रखती हुई पहाड़पर चलती चली जाती हैं और फैल जाती हैं। एक उस चोटीपर है, तो वह देखिए, दूसरी सामनेकी चोटीपर घास चर रही है। चरती जाती है और रह-रहकर चारों तरफ़ देखती जाती है। इस बड़े पहाड़के साथ उनका इतना अपनापा है कि उसकी सिरपरकी घासको मुँह भर-भरकर यह गैयाँ-बकरियाँ खाती रहती हैं और यह दैत्य पहाड़ भी उनके नीचे चुपचाप पड़ा रहता है।

और बकरियोंकी कुछ न पूछिए। डर उनके पास नहीं, फ़िक्र उनके पास नहीं, पतली टाँगें और छोटे खुर उनके पास हैं, जो डिग नहीं सकते। और उन्हें क्या चाहिए ? तो लीजिए, जहाँ हमारी आँखको ठहरते डर लगता है, समुंदरसे सात हजार फ़ीट ऊपर, अधर शून्यमें बाहरकी ओर निकली हुई पहाड़की सुग्गेकी-सी उस चोंचपर, बेधड़क बकरी पहुँच गई है और अपनी टाँगोंको वहाँ थामकर नीचे जगतको ऐसे देखती हैं मानो सम्राज्ञी हो। देखो, देखो, वहाँ वह कैसी खड़ी है! पता ही नहीं चलता कि पिछले दो पैर कैसे टिक रहे हैं! और अगले दोनों पैरोंकी टापोंको कँटीली झाड़ीके माथेपर चढ़ाए उसका सिर खाये जा रही है। अरी भलीमानस, कहीं गिर न पड़ियो! पर, 'गिरें उसके दुश्मन' इस बेफ़िकर भावसे वह बकरी झाड़ीका एकएक पत्ता चुन जानेमें लगी है।

शामका वक्त था। गाँवपर छाया छा गई थी। पहाड़की जिस-तिस उभरी चोटी-

पर अभी धूपका अवशेष था। घड़ी-दो-घड़ीमें सूरज अब छिप जायगा। बकरियाँ चारों खूँट छाई थीं। एक उत्तरके पहाड़की चोटीपर थी, तो दूसरी दक्षिणवालेकी छातीपर। तभी पहाड़में टकरा-टकराकर बिलकुल गोल बन गई हुई एक गूँज मुझे सुनाई दी। आर्यसमाजी नहीं हुआ, नहीं तो समझ जाता कि आकाश घन-घोषसे 'ओ३म्' कह रहा है। वैसा घोर स्वर उससे पहले कानोंमें न पड़ा था। वह-गूँजता था और गूँजता था। चारों ओरको दीवारोंसे टकराकर नीचेके शून्य अंकमें वह घनेपर घना होता हुआ घूम रहा था। धीरे-धीरे क्षीण पड़ता हुआ वह लय हो गया। मैंने सोचा यह किसकी आवाज़ है? कोई बहुत उच्च-घोष पुरुष होगा, यदि पुरुष है। थोड़ी देर बाद वैसी ही एक गूँज फिर सुन पड़ी। इस बार सब कुछ ध्वनिमें एकदम मिल नहीं गया था, कुछ अलग-अलग ध्वनियाँ भी थीं। मात्र स्वर न था, शब्द भी थे। लगा, ध्वनिमें तारतम्य है, और आरोह अवरोह-सा भी है। जान पड़ा, कोई व्यक्ति ही है, अनहद ओ३म् नहीं है। किन्तु कौन व्यक्ति शंखके समान ऐसा उद्घोषोच्चार कर सकता है। उस ध्वनिमें बृहद् शंख-सी कंठशक्ति और अतुल फेफड़ेका सामर्थ्य था। इस लम्बे-चौड़े आदमियोंके प्रान्तमें भी कौन वह आदमी है, जो ऐसा बादलों-सा पुकारता है। वह गूँज धीरे-धीरे गूँज कम और आवाज़ अधिक होने लगी। वह कुछ स्पष्टतर होने लगी और पास आती हुई-सी लगी। शनैः-शनैः उस भीम गर्जनाकी गूँज न रही और अब स्वतः वह रव ही कानोंमें पड़ने लगा। वह रव जहाँसे आता था, उस कंठके आश्चर्यजनक सामर्थ्यको बतलाता था। मैं रुका रह गया। मैं सोचता था, क्या असम्भव है, उस पहाड़के साथ गानेवाला व्यक्ति इधर से ही आ निकले। अवश्य ही वह भरी दाढ़ी, लम्बे डील और चौड़े डौलका आदमी होगा। कुछ देर बाद वह ध्वनि राग बनने लगी और चोन्ह पड़ा अतिशय प्रबल कंठसे गाया जा रहा है—

ओ आजा-आ, ओ आजा-आ
मोरे किसुन कन्हाई, आ-आ-आजा।

मैंने सोचा, इतने जंगली और मर्दानी लताड़के साथ इस अँधेरेमें पहाड़के ऊपरसे किसुन कन्हाईको बुलानेवाला कौन है। आवाज़ निकट ही आती गई—

मोरे बंसरीवाले आजा आ-आ
मोरे बंसरीवाले आ-आ-आजा।

मुझे मालूम होता था कि गानेवालेको पक्का खटका है कि उसका बंसरीवाला किसुन कन्हाई हलकी टेरपर कान देनेवाला नहीं है। जैसे कि वह खूब जानता है कि वह किसुनजी बंसरी लेकर इस नीले आसमानके ऊपर कहीं जा बैठा है, और पूरे गलेकी टेर भी वहाँ तक पहुँच जायगी, इसका भरोसा नहीं है। इसीलिए वह कुछ रुककर मानो श्वासका संचय करके दुगुने रवसे फिर गा उठता है—

जसुदाके प्यारे आजा-आ-आ
राधाके प्रीतम आ-आ-आजा
मोरे किसुन कन्हाई आजा-आ-आ
ओरे बंसरीवाले आ-आ-आजा

गीत मेरे पास ही आता गया और एकाएक मुझे ज़ोरकी सीटी सुनाई दी। जैसे गार्ड झल्ला गया है कि गाड़ी क्यों खड़ी है और मनकी पूरी झल्लाहट फूँककर उसने सीटी बजाई है। एक, दो, तीन, रुक-रुककर तीन बार सीटियाँ बजीं और उसके बाद फिर गाना शुरू हो गया—

मेरे राजदुलारे आजा-आ-आ
मेरे प्रीतमप्यारे आ-आ-आजा

यह गाना मेरे बहुत ही पास आता गया। ज्यों-ज्यों पास आता, मैं अपने कान-पर हाथ रखकर, गायककी कण्ठ-शक्तिपर विस्मित होकर रह जाता।

कुछ देर बाद मैं देखता हूँ कि जिस ओरसे गानेकी आवाज़ आ रही थी, उसी ओरसे एक लड़की चली आ रही है। बेगाना है, बेख़बर है। मानो जैसे उसे ख़बर है तो यही कि यहाँ कोई नहीं है और इस सन्नाटेकी वही मल्का है। लम्बे बेपरवाह डगोंसे वह बढ़ी चली आ रही है। वह

तभी मैं हैरतमें रह गया। वह बढ़ी ही चली आ रही है और गाती आ रही है। गाती चली आ रही है—

मोरे बंसुरीवाले आज-आ-आ
ओरे बंसुरीवाले आ-आ-आजा

उसको मैंने देखा। देखा कि लड़की ही है। उसके कंठमें यह घन-घोर रव कहाँ से आया है? सलवार पहने है जो पिंडलियों तक आगए हैं, घुटनोंपरसे फटे हैं। ऊपर कमीज़ लटकी है जिसकी एक बाँह आधी होनेके निकट है, दूसरी बाँह भी

पूरी साबित नहीं है। सिरको ज़रा छूती और कन्धोंपर पड़ी ओढ़नी नामकी एक चीज़ है। मालूम होता है कि गानेमें उसे विशेष आयासकी आवश्यकता नहीं होती है। सहज-भावसे ही मानो कदमोंका साथ देने-भरके लिए वह गाती चली आती है। सत्रह-अठारह वर्षकी होगी। उठान उसका औसतसे विशिष्ट ही है। पीन वक्ष, पुष्ट देह वह पूर्ण युवती है, पर वह पूरी बेगाना भी है। कमीजका काम लटकना ही नहीं है, अंग ढकना भी है, जैसे यह भी हर समय उसे याद नहीं रहता, सिखाई सीखकी तरह उतर-उतर जाता है। तब, तब अगर आदमीकी निगाहपर उसकी निगाह पड़ जाय, तो वह झटपट अपनी कमीज़-ओढ़नीको ठीक-सा भी करती है, लेकिन फिर भूल जाती है, वह युवती है, और मैं नहीं कह सकूँगा, सुन्दरी नहीं है। वह धमकके साथ डग बढ़ाती हुई चली आ रही है, गाती आ रही है—

मोरे पीतम प्यारे राजा-आ

मोरे मोहन प्यारे आ-आ-आजा !

ओ आजा-आ-आ ! ओ आजा-आ-आ ! !

वह मुझसे दस क़दमके फ़ासलेपर सहसा रुक गई। गाना भी रुक गया। फिर एकाएक बढ़ी और बढ़ती ही आई और मेरे पास आकर खड़ी हो गई, मानो पूछना चाहती है—तुम कौन ? मेरे राजमें तुम कौन ?

मैंने पूछा—बाले, तुम कौन हो ? इस वक्त यहाँ क्या करती हो ?

उसने दोनों हाथोंको मेरी आँखोंके सामने नचा दिया—'नेई शमुजता' और इसके आगे शायद पश्तोमें कुछ कहा, जिसमें मैं 'मी नादिरा' इतने वाक्यांशका यह आशय बना सका कि नाम नादिरा है।

मैंने उससे बात करना चाहा और जानना चाहा कि किस प्रकार वह ठेठ हिन्दीका गाना इतना शुद्ध गा लेती है। पर वह उत्तरमें हँसती, हाथ हिलाती और पश्तोमें कुछ बोल देती और मुझे कुछ विशेष सूचना न प्राप्त होती।

मैंने देखा वह बीच-बीचमें इधर-उधर भी देख लेती है। एक बार इस तरह देखनेमें उसकी निगाह एक तरफ़ जमी रह गई। मैंने उसी ओर दृष्टि करके देखा कि पहाड़के बहुत ऊँचे कँगूरेपर, एक अकेली बकरी घास चुग रही है। ज़रा इधर और सैकड़ों फीट नीचे वह आ पड़ेगी! क्षणभर रुककर दो अँगुली मुँहमें डालकर नादिराने ज़ोरसे सीटी बजाई। एक सीटी, दो सीटी और तब बकरीने मुँह उठाकर शान्तिके

साथ चारों ओर देखा। उसी समय नादिराने मुँहको गोल बनाकर एक ज़ोरकी आवाज़ की। मेरे कान बहिरे होने लगे। बकरी, जो फिर घासको मुँह लगानेको उद्यत थी, एकाएक चिन्तापूर्वक फिर चारों ओर देख उठी। 'पुई' 'पुई' यह आवाज़ नादिराने कई बार की; पर बकरी सुनकर भी मानो कोई कर्त्तव्य स्थिर नहीं कर सकी, खोई-सी ही रही।

इस समय नादिराके निकट मैं जैसा था, वैसा न था। उसके निकट जैसे इस समूची दुनियाका ही होना-न-होना एक-सा था। बस दूर, वह सामने बकरी उसके लिए थी और उसके निजके पास अपने मुँहकी तरह-तरहकी आवाजें थीं, जिनको वह बकरी तक भेज सकती थी। इस बार उसने आवाज़ बदलकर तीखे वेदनाके शब्दोंमें चीखा—'पुआँ, पुआँ'। मुझे लगा जैसे कुएँके तटसे नीचे गिरते-गिरते बालकको दूरसे देखकर असहाय माँ पुकार रही हो – 'कुआँ, कुआँ!'

बकरी शायद इसपर चौकड़ी भूल गई। या कहो, होनहार ही आ मड़लाई मेरे देखते-देखते उसके पैर खिसके, वह सँभली, लड़खड़ाई और नीचे आ गिरी। नीचे — यानी अतलमें!

नादिरा इसपर हिरनकी चालसे एक साथ भाग छूटी। मैं चिल्लाया—'नादिरा! नादिरा!!' और वह पत्थरोंको फलाँगती भागी जा रही थी, भागी जा रही थी। क्या उसे नहीं मालूम कि शामके बाद रात होती है और कि रात अँधेरी भयावनी होती है? वह और ऊपरकी तरफ जा रही थी, और ऊपरकी तरफ। ऊपर जहाँ आसमान है, निर्जनता है, खतरा है और स्वच्छता है। नीचे तो देखती भी नहीं थी, नीचे जहाँ गाँव है, आदमी हैं और आसरा है। ऊपर, जहाँ पहाड़ उठते-उठते रुक गया है, और जहाँसे बकरीने गिरकर मौत पाई है।

उस लड़कीके माँ है? बाप है? बहन है? भाई है? उसके कोई शादी करनेवाला है? क्या वह आदमीको समझती है और क्या आदमी उसे समझता है? या उसके दिलके दूधको बकरियाँ ही पीयेंगी, वे ही समझेंगी? क्या किसी घरकी वह सदस्या है? किसी माँकी वह बेटी है? क्या वे लोग अठारह वर्षकी उम्र तक इसकी यही उपयोगिता पाते हैं कि ऊँचे-ऊँचे पहाड़ोंमें यह बकरी चराती फिरे!

* * *

मैंने कहा – हृदयनाथ, मालूम करना चाहिए, जो बकरीके साथ इतना निजीय है, वह इस आदमीकी दुनियामें किस जगह है ? आदमीकी दुनियाने अपने साथ उसका क्या सम्बन्ध बनने दिया है ?

हृदयनाथने कहा — छोड़ो, छोड़ो। क्या वह ऐसी खूबसूरत थी ?

मैंने माना, हाँ, एक तरहसे खूबसूरत भी थी।

हृदयनाथ बोला — तुम पाओ, तो उसे ले लो !

मैंने कहा—मैं ले लूँ ? क्यों, इसमें लेनेकी क्या बात है ?

"लेनेकी कुछ भी बात नहीं है, तो परेशानीका सबब !"

छिः छिः, आदमीमें कैसी तुच्छता भरी है ! मैंने कहा—

"सबब होगा जो होगा। तुम उठो, आओ चलें। देखें, उसका कुछ पता चलता है, या नहीं।"

मेरी तबियत थी कि मैं जाऊँ, देखूँ, पहाड़परसे बकरीका क्या बना है और नादिरा क्या करती है ? लेकिन पहाड़से मेरी घनिष्ठ आत्मीयता कब हो सकी है ? अपनी मर्म-कथा वह अनात्मीय पहाड़ मेरे हाथोंमें कैसे पकड़ा देगा ? उसके राह-रास्तों का मुझे बिलकुल ही पता नहीं है। तब मैंने इसीपर सन्तोष माना कि हृदयनाथको साथ लेकर गाँवमें उसकी कुछ खोज-खबर लूँ।

पता लगाते-लगाते यह लगा कि वह अपने एक दूरके चाचाके यहाँ रहती है। बाप उसका मर गया है और माँने कोई दूसरा घर बसाया है। माँ अपनी जातिमें बहुत सुन्दरी गिनी जाती थी। उसकी तबियत निराली थी। प्रेममें स्वच्छन्द, कर्त्तव्यमें तत्पर, संकटमें निर्भय और तकरारमें तेज थी। यह लड़की नादिरा, अविवाहित-प्रेमका फल थी। पर वह उसे बहुत प्यारी थी। उसकी माँने उसे अपने पास तब तक रखा, जब तक पतिपर उसका पूरा काबू चला। उसने लड़कीको शिक्षा दी कि वह स्वच्छन्द रहे। विपद् सह ले; पर स्वच्छन्दता न खोये। दिन आया कि यह लड़की नादिरा उसके हाथोंसे छूटी और इस गाँवमें अपने चाचाकी शरणमें आ पड़ी। तबसे वह बढ़ रही है और बकरी चरा रही है। आदमियोंकी दुर्दुराहट उसे मिली है। एक ओर माँका प्रेम और दूसरी ओर सबकी दुत्कार, इतनेहीके द्वारा मनुज प्राणीको वह जितना समझती है, समझती है। और अधिक आदमीको वह नहीं समझती। घरमें टहलका धन्धा करना पड़ता है। इतनेपर भी आदमीके सम्पर्कमें आनेके कारण

उसकी भाषा वह समझ लेती है। नहीं तो आदमी उसके लिए जन्तु है, बकरी आदमी है।

मैं उसके चाचाके घर पहुँचा। सिरपर सोला हैट था। बिरजिस थी, जिसपर फ़ुल-बूट कसा था, पीछे राइफल लिये आदमी आता था और मेरे एक तरफ़ बाइनोकुलर लटका था, दूसरी तरफ़ कैमरा था। मैंने पहुँचकर उसके चाचाको बिलकुल डरा दिया। छोटा कच्चा-सा घर था, जो आदमियोंसे ज़्यादा मुर्गियोंका था। वे ही इधर-उधर चारों ओर बिखरी फिर रही थीं। मैंने उससे अंडोंके मोल-तोलसे बात शुरू की। कहा—बकरियाँ नहीं हैं?

मालूम हुआ, हैं।

'तो कहाँ हैं? चरने गई हैं? कौन ले गया?'

'पड़ोसका एक लड़का ले गया है।'

'वही ले जाता है?'

'नहीं, एक लड़की है। नौकर ही समझिए— वह भी ले जाती है।'

'अब वह नहीं है, कहाँ गई है?'

'मालूम नहीं, दो रोज़से नहीं लौटी, एक बकरी भी कम है। लड़की बड़ी बद-माश है साऽब। (गालीके साथ) कहीं चली गई होगी। साऽब, उसे जवानीका जोम है। रोज़ मार-पीट लेते हैं। उसे अकल नहीं आती।'

मैंने जोरसे कहा—लड़की तुम्हारी रिश्तेमें कुछ होती है?

'रिश्ता! हमारा उससे रिश्ता होगा! वह हरामज़ादी है।'

मैंने कहा—दो रोज़से वह तुम्हारे घर नहीं आई। तुमने उसे तलाश करनेके लिए क्या किया?

(गालीके साथ) आना होगा, आप आकर मरेगी।

मैंने कहा—तुमको यह नहीं सूझता कि सर्दी-पालेमें वह पड़ी हो सकती है। और क्या पता क्या हालत हो? तुम क्या जानते हो कि वह मरी नहीं है।

उसी समय उस आदमीकी बीबी प्रशस्त धड़ लिये सहनमें आई और दो-एक मुर्गी के बच्चोंको गर्दनसे दबोचकर अन्दर ले गई। वे बच्चे कीं-कीं-कीं प्रोटेस्ट करते हुए उन चौड़े हाथोंकी मुट्ठियोंमें दबुचकर रह गये।

नादिराके चाचाने जो कहा, उसका आशय यह बनता था कि वह लड़की मरे, तो जहमत दूर हो। पर वह कहीं मरनेवाली है ! किसी यारके घर होगी।

मैं सोचता रह गया। नादिरामें मेरी क्या दिलबस्तगी थी, मुझे समझ न आता था। पर मैं यह जानता था कि नादिरा वैसी निर्दोष है, जैसे कोई शिशु या पशु ही हो सकता है। उसकी निर्दोषिता, किन्तु मनुष्यके निकट कभी प्रमाणित और प्रतिष्ठित नहीं हो सकेगी। तब मैं उसके हितमें क्या कर सकता था ?...क्या कर सकता था ? मेरे मनमें एक बार उठा कि क्या मैंने विवाह न करनेकी कसम खाई है ? लेकिन यह विचार मैंने धकेलकर अपनेसे परे हटा दिया। मैं सोचता रहा और अन्तमें मैंने पाया, बिना सोचे-समझे मैं उस आदमीसे पूछ रहा हूँ—उसकी उम्र कितनी है ?

करीब सत्रह वर्ष उसने उम्र बताई।

मैंने दस रुपयेका नोट निकालकर उसकी तरफ़ बढ़ाया, कहा—उसको ढूँढ़कर ला सकते हो, तो और भी इनाम मिलेगा।

मैंने देखा, इसपर वह गर्म होना चाहता है। वह मेरी तरफ़ निगाह बाँधकर देख रहा है। मैंने मुस्कराकर एक नोट और निकाल दिया। वह शायद तौल रहा था कि इन्हें फेंकना ठीक है या जेबमें रखना ठीक है ? मैंने एक और भी नोट उसे दे दिया। वह मेरी तरफ़ देखता ही रहा। मैं बिलकुल नहीं जानता था कि मैं क्या कर रहा हूँ। लेकिन उस आदमीको क्रम-क्रमसे रुपयेके महत्त्वकी पहिचानकी ओर बढ़ते देखनेमें मुझे स्वाद आ रहा था। मामूली हालतोंमें ठीक ही बात उसके लिए ठीक बात है, उचित ही उचित है। रुपयेका बोझ, हाँ, किसी खास तरफ़ हो जाय, तब बेशक उचित-अनुचितके मापमें फेर-फार हो जाता है।

मेरे दिये तीस रुपयेके नोट हाथमें थामकर उसने कहा--बहुत अच्छा, हुजूर !

मैंने कहा—और भी इनाम मिलेगा।

* * * *

नादिरा मिल गई। वह पहाड़ी जड़ी-बूटीकी मददसे मरती-मरती बकरीको मौत के मुँहसे खींच लानेके यत्नमें संलग्न थी। मैं नहीं जानता कि उसे पता होगा कि दिन-का-दिन निकल गया है, रात-की-रात निकल गई है; कि उसने खाया नहीं है और यह कि जहाँ है वह घोर जंगल है। हो भी सकता है कि उस बेवकूफ़को यह पता न हो।

बकरी मरी नहीं, पर जिई भी नहीं। जब खोज लगाकर उसका चाचा जैसे-तैसे

वहाँ पहुँच सका और बहुत-से प्रेमके सम्बोधन खर्च करके उसे घर ले चलनेका आग्रही हो गया, तब बकरीको साथ लेकर नादिरा साथ-साथ चल दी। दूसरे रोज़ बकरी मर गई और नादिरा जैसे मतिशून्य हो गई।

एक दिन साढ़े आठ-नौका वक्त होगा कि देखता हूँ—झूठे गोटेसे टँका, नीले रंगका सलवार और रंगीन-सी ओढ़नी ओढ़े नादिरा मेरे डेरेमें आकर खड़ी हो गई है। जैसे इसी तरह वह ऊपरसे लटकाकर यहाँ छोड़ दी गई है। नहीं जानती, क्या उससे चाहा जा रहा है और क्या उसे करना है। चंचलता और स्वच्छन्दता उसे एक-दम छोड़ गई है और वह किंकर्तव्य-विमूढ़ है।

मैंने कहा—नादिरा!

उसने न मेरी आँखोंके सामने हाथ हिलाये, न पश्तो बोली, न हँसी। उसके गोटेके कपड़े देखकर मेरे मनमें करुणा उठी। यह कपड़े, जो शायद मँगेनूँ हों, शायद घराऊँ हों, उसपर ऐसे धरे हैं, जैसे मूरतपर उढ़ा रखे हों और उनके नीचे वह भी अडिग, अचल, बनी मूरत-सी खड़ी है!

मैंने कहा—नादिरा!

वह चुप।

मेरे मनमें करुणा-ही-करुणा भर गई। इस वन-कन्यापर यह झूठा बाना कैसा? इसके नीचे एक क्षण भी क्या वह वैसी हरियाली, प्रफुल्ल रह सकेगी?

मैंने कहा—नादिरा, क्या है?

चुप।

मैंने कहा—जाओ, घरपर कुछ काम करना। हम लोग दो-एक रोजमें चले जायँगे।' कहनेके साथ मैंने हँसकर एक अँगुली अपने सीनेपर रखी, एक दूरीकी तरफ़ इशारा किया और फिर उसी अँगुलीको नादिराके सीनेकी ओर उठाया, साथ कहा भी—'हम जा रहे हैं दूर। दिलमें हमें रखोगी न?' और मैं हँसा।

वह चुप।

उस मूक प्राणीकी उस आबद्ध, अलंकृत और सधाई हुई निष्प्राण हालतको देखकर मेरा मन आप-ही-आप अतिशय कातर, भीना हो आया।

मैंने अपने एक विश्वस्त नौकरके साथ उसे घर भिजवा दिया।

अगले रोज दिनमें जब मैं उससे अन्तिम बिदा लेने गया, तो मुझे मालूम हुआ,

वह खाटमें पड़ी है। उसके सख्त चोट आई है। बात यह थी कि कल उसके चाचाने बेहद उसे पीटा था। उसके वापिस घर पहुँचते ही चाचाने माँगा था—'ला, क्या लाई !'

वह तअज्जुबमें पड़कर चुप रह गई थी।

चाचा ऐसा आदमी न था कि उसकी भतीजी नोट-के नोट लाये और चाचा बहकायेमें आ जाय और रुपये वसूल न कर ले। भतीजोकी कमाईके रुपये पानेके लिए उसने भतीजीको मारते-मारते बेदम कर दिया। शायद मौतके आ जानेसे रुपये मिलनेकी सम्भावना ही एकदम समाप्त हो जाती थी, इस कारण मारना अगले दिनपर स्थगित कर दिया गया हो।

उस समय मुझे कुछ नहीं सूझा। मैं भीतर घुस गया। झकोली चारपाईपर ढेर वह नादिरा पड़ी थी। कई जगह सूजन थी, कई जगह घाव थे। उसने मेरी ओर आँखें करके देखा। वे आँखें हिरनको आँखें थीं। उनमें न अभियोग था, न दर्द। जैसे उसे न अपेक्षा है, न उसके लिए कुछ अनपेक्षित है।

मैंने कहा—नादिरा !

शायद मेरे सम्बोधनके स्वरने उसे छुआ।

मैंने और उसके समीप झुककर कहा—नादिरा !

उसने दोनों हाथोंमें मेरा हाथ ले लिया। उसकी आँखें डबडबा आईं। उसकी देह भी उस समय जैसे एक साथ कंटकित हो आई थी। भरे कटोरेसे अपनी हिरनी की आँखें मुझपर लगाकर वह जाने किस भावसे मुझे देख उठी। उस समय मेरे शरीरकी शिरा-शिराने जैसे साक्ष्य दी—'अरे, यह तो स्त्री है ! अरे, यह प्रणयिनी कब नहीं है ?'

मैं—

तभी मैंने लौटकर देखा, उस चाचाके चेहरेपर दुर्लक्ष्य, दुर्निवार कोई उद्धत विचार फैलता जा रहा है और वह धीरे-धीरे बढ़ रहा है।

मैं अपना हाथ छुड़ाऊँ कि दोनों हाथोंसे उसे दाबकर नादिराने कपोतीकी कूजन-सी करके कहा—बाबू ! बाबू !

मैं देख सका, उस बढ़ते आते हुए चाचाके हाथमें पीछे छुरा है।

मैंने एक साथ बढ़कर बूटकी एक ठोकर उसे दी। वह लड़खड़ा आया। जेबसे

सौ रुपयेका एक नोट निकालकर उसकी तरफ फेंकते हुए कहा—'ले ! ले !' और मैं चला आया।

मैं चला आया और अबतक भी मैं नहीं जानता हूँ कि नादिराको कभी किसीने स्त्री बननेका अवसर दिया कि नहीं। सोचता हूँ कि क्या उसका मातृत्व अपनी सार्थकताके लिए गोदमें मनुज-शिशु भी कभी पायेगा, या कि वह सम्पूर्ण भावसे बकरी जैसे प्राणियोंके प्रति ही विसर्जित होता रहेगा ?

क्या हो ?

१९

जब दिनकरको फाँसीकी सजा सुनाई गई, तब उसने जजकी ओर मुस्कराकर कहा—थैंक यू। लेकिन शामको अपनी अकेली कोठरीमें सोचने लगा कि इसमें हँसकर 'थैंक यू' कहनेकी बात नहीं है। कोई यदि यह निर्णय दे देता है कि कुछ दिनोंके बाद मुझे जीना नहीं होगा, तब क्या उस निर्णायकका उस निर्णयके लिए कृतज्ञ होना चाहिए ?···क्या मुझमें कृतज्ञता है ! क्या मुझमें खुशी है ? तब मैंने क्यों यह झूठा आचरण किया कि मैंने जजको धन्यवाद दिया ? धन्यवाद मुझमें न था।··· लेकिन क्या यह है कि रोऊँ नहीं, इसलिए मैं हँसा ? मैं समझता हूँ, यह भी ठीक बात नहीं है। रोनेकी भी कोई जरूरत इस समय मेरे भीतर नहीं है। यह ठीक है कि निर्णयमें मात्र इतना ही नहीं है कि अमुक तिथितक मैं जीऊँ। जीवन उस तिथि-तक चुक जाय, और फिर मौत सरकती हुई आ जाय, व्यवस्था इतनी ही नहीं है। व्यवस्था यह भी है कि मैं मारा जाऊँ, गलेमें फन्दा अटकाकर मेरी जान मुझमेंसे खींचकर तोड़ ली जाय। यह बात, अगर मैं कहता हूँ सुखकी है, तो झूठ कहता हूँ। यह सुखकी बात हो सकती थी कि अमुक क्षणके बाद मैं पाऊँ—मैं नहीं जी रहा हूँ। लेकिन जीते-जी मार दिया जाऊँ (और फाँसी और क्या है ? और हत्या भी और क्या है ?) यह सुखकर बात नहीं है। इसको तो सामने देखकर वितृष्णा ही होती है। या हाँ, उन्मत्त, अन्धा आकर्षण हो सकता है। किन्तु मुझे आकर्षण नहीं है। मुझे वह समूची वस्तु कुछ मैली मालूम होती है, अपावन, अशुचि, असु-न्दर। मैं उस ओर देखना नहीं चाहता हूँ।...तो क्या जी फिर रोनेको आता है ? नहीं, मेरे भीतर अभीतक इस फाँसीकी बातको लेकर तनिक भी रोना नहीं आ सका है। मैंने कुछ किया। मैं जानता हूँ, मैंने वह किया। वह करते समय भी मैं जानता था कि उसके अन्तमें यही चीज़ हो सकती है, फाँसी !, जिसको मैं अब भी ठीक नहीं

जानता कि क्या है । इस फाँसीके परिणामके व्यापक भावके इतने भागको मैं जानता था कि जिनसे मैं बोलता हूँ, मिलता हूँ, जिनसे प्रेम लेता और जिनका प्रेम देता हूँ, जिनके भीतर अपनेको फैलाकर और जिन्हें अपने भीतर धारण करके मेरा जीवन सम्भव बना चलता है ; वे सब मेरे लिए न रहेंगे, मैं उनके लिए न रहूँगा । . मैं उनके लिए न रहूँगा ! तब क्या कोई होगा जिसके लिए रहूँगा ? नहीं-नहीं, बिलकुल तिरोहित, अशेष, असत् हो जाऊँगा । विश्वके चेतना-पिण्डमें कोई मेरे व्यक्तित्वके अस्तित्वका भास या विधाताके बहो-खातेमें कोई हिसाब शेष रहे भी, तो उस शेष रहनेको किस तरहकी गिनतीमें रखा जा सकता है ? इस सर्वतोभावेन तिरोभाव होनेकी सम्भावनाको मैंने तब भी सामने रखा । अब भी सामने वही है । इसलिए घबराहट मुझमें भीतरसे कोई नहीं होती ।...मात्र इतना ही है कि फाँसी स्त्रीलिंग पाकर भी सुस्वरूपा नहीं है । आकार-प्रकारमें असुन्दर वस्तु है । इससे उस ओर देखना कुछ प्रीतिवर्द्धक नहीं होता ।

किन्तु अबतक, जीवनके इस निश्चित छोरपर आ लगनेतक, मैंने अपनेहीको माना है । जो समझा है, किया है । उसके करनेसे भी नहीं बचा हूँ, उसके परिणामसे भी नहीं बचा हूँ । मुझे अपनेमें खेद नहीं है; पर अब आकर मुझे यह बोध हो रहा है कि क्या मैं बिलकुल अपना ही था ? जिन्होंने मेरे साथ आशाएँ और प्रत्याशाएँ बाँधीं, भविष्य बाँधा, प्रेम बाँधा, अपना जीवन ही बाँध लिया; जो मेरी ओर ही आँख बिछाये बैठी रहती थीं, उनका भी तो मुझमें कुछ था । उन लोगोंको मैंने अपना क्या दिया ? जिसे हक समझा, आदर्श समझा, उसीका सब-का-सब क्या मैं न हो रहा ? किन्तु इन लोगोंको क्या मेरा कोई भाग प्राप्य नहीं था ? यदि मैंने अपनेको उनके प्रति विसर्जित नहीं किया और जीवनके धागेको बीचसे ही काटकर झट उसके परले किनारे आन बैठा, तो क्या मैने अपना कर्म पूरा किया ? क्या उचित किया ?

माना, देश है । माना, आदर्श है । माना, भारतमाता भी है । और मान लिया, गुलामीकी बेड़ियोंको तोड़ना भी कुछ है । लेकिन अपनी सगी माँ अपनी क्या कुछ नहीं है ? बाप कुछ नहीं है ? भाई कुछ नहीं है ? और वह बेचारी अबोधा कच्ची हरियाली-सी पत्नी कुछ नहीं है ?

मैंने कहा और मैं कहता हूँ, मुझे खेद नहीं है । पछतावें, जो पछतावें । मैं अकंप हूँ । लौटना मैं नहीं चाहता । लौटने जैसी चीज़ साथ लेकर मैं नहीं चलता । फाँसी

आती है, तो आती रहे। मुझे उस तरफ़से बेफ़िक्री है। मुझे क्षणके लिए भी माँगना नहीं है कि—'अरी तू ठहर। मुझे इतना यह और कर लेने दे।' मेरे मनमें तनिक भी जिज्ञासा नहीं है कि—'अरी क्यों, तू लौट नहीं सकती ?' मैं अपने भाग्यसे कोई सवाल-जवाब नहीं करना चाहता। मैं चुनौती देकर चलता हूँ। मैं कहता हूँ, मैं यह हूँ। अब भविष्य अपना जाने कि उसे क्या होना है। भविष्यका जो भी विधाता हो, मुझे उसके समक्ष कोई प्रार्थना नहीं है। मैं बस, अपने वर्तमानका विधाता हुआ चलता हूँ। आगेसे मुझे मतलब नहीं है। आगे फाँसी है कि स्वर्ग, जाननेका मेरा कोई सरोकार नहीं। इसलिए, मैं कहता हूँ कि फाँसीकी कोठरीमें हूँ, इसमें कोई ग़लत बात मैं नहीं पाता। मैं इतना जानता हूँ कि, जो समझता हूँ, करता हूँ। जो पुरस्कार आता है, वह आ जाय। जो दण्ड आता है, वह आ जाय। मुझे वह भी जाननेसे क्या वास्ता कि यह दंड है अथवा पुरस्कार ? कि विधना रुष्ट है कि तुष्ट ?

लेकिन, बात लौटनेकी नहीं है। जब कि कहता हूँ कि पत्नीके, माताके, पिताके, भाईके प्रति मैंने अपना दान नहीं किया, तो अभिप्राय यह है कि मैं किसीके लिए खपा नहीं, विसर्जित नहीं हुआ। मैंने अपनेको बचाया। या हो सकता है, मैंने अपने-को वारा नहीं, खोया। राष्ट्रपर मैंने अपनेको दे डाला; पर राष्ट्र क्या है ? आदर्शपर मैंने अपनेको वारा है; पर वह आदर्श क्या है ? वह राष्ट्र और वह आदर्श क्या इतनी तुच्छ वस्तुएँ हैं कि पत्नीको उससे बाहर ठहरना होगा ? माता, पिता, भाई—यह सब उसकी परिधिसे बाहर रहेंगे ? क्या उसकी परिधि इतनी सँकरी है ?

ठहरो, इन बातोंसे कुछ नहीं उठना है। लौटना व्यर्थ है, दुष्कर है, मुझे अमान्य है। तब जो मैंने नहीं किया, वह क्यों सोचता हूँ ? बहुत कुछ है, जो मैं करता, पर नहीं किया। मनमें अरमान क्या इसलिए हैं कि वे पूरे हों ? कल्पना क्या इसलिए है कि वह सब सिद्ध हो ! हम आसमान इसलिए नहीं देखते कि आसमान हम बन ही जायँगे; लेकिन आदमीकी हसरत-अरमान, उच्चाकांक्षाएँ इसलिए भी नहीं हैं कि वे आदमीको पंगु बनायें, पस्त बनायें। वे पूरी नहीं होंगी, ठीक; पर अधूरी रहनेके मानी यह नहीं कि वे हमें अविश्वासी पायें, विफलता और अकृत-कार्यताके बोझसे दबे पायें।

···पत्नीकी अवस्था बीस वर्षकी है। पन्द्रह वर्षकी थी, जब मैं अमरीका गया। मुझे देखने न पाई थी और प्रतीक्षामें थी, कि कब मैं उसकी बनाई चाय पीने भीतर

पहुँचता हूँ कि पकड़ा गया। अब वह बीस वर्षकी है और इक्कीस वर्षकी न हो पायेगी कि मैं फांसी पाकर समाप्त हो चुकूँगा।...

वह कौन है? मेरी पत्नी है! पत्नी क्या? पत्नी वह जिसके साथ विवाह हुआ हो। विवाह! यह विवाह अद्भुत तत्त्व है। मनुष्यने उससे बढ़कर और क्या रचा है? एक अनजान कन्या अठारह वर्ष की थो, जब लौटा दूसरे बिलकुल अनजान कुमारके साथ कुछ ही क्षणोंमें, जिस महा-अद्भुत मन्त्रके उच्चार द्वारा आपसमें ऐसे हो जाते हैं कि वे किसी भी ओरसे दो शेष न रहें, अभिन्न-जीवन हो जायें, उसको विवाह कहते हैं। उस विवाहके अर्थ हैं—मरेंगे, तो दोनों मरेंगे; जियेंगे, तो दोनों जियेंगे; सुख-दुःख, जीवन-मरण, हानि-लाभ, यश-अपयश, सबमें दोनों एकसे सहभागी होंगे।... विवाह हुआ और वह कठिनाईसे पन्द्रह वर्षकी कन्या मुझमें मिला दी गई।...अब मैं फाँसीकी कोठरीमें हूँ, वह घरमें है।...

मनुष्यने विवाह सिरजा। माना, मनुष्य और मनुष्यके बीचके सम्बन्धकी दृष्टिसे विवाहसे सुन्दरतर युग-युगमें मनुष्यने दूसरी कृति नहीं प्रस्तुत की; किन्तु विवाहका रक्षण जहाँ न हो सके, वहाँ? जो न कर सके, उसके लिए? उस स्थलपर और उस व्यक्तिके लिए भी क्या विवाह टिकेगा? क्या ऐसे समय अरक्षितको रक्षा और वंचित को हक पानेका कोई यत्न नहीं हो सकेगा?

मैं मरता हूँ; किन्तु क्या उस अबोधा, किशोरिकाका पत्नीत्व निष्ठुर पतित्वकी प्रतीक्षा करते हुए चिरकाल तक, अस्तकाल तक, परकाल तक बैठा रहेगा? मैं अपने कामोंके लिए मरा, यह मेरे कामका पुरष्कार है, या चाहे उसका दण्ड है। किन्तु, जिसको अपने जीवनके साथ तो आ मिलने दिया; लेकिन जो मेरी उन पुरस्करणीय अथवा दण्डनीय करतूतोंके लिए तनिक भी उत्तरदाता नहीं है, वह बेचारी भी क्या उस आंचसे झुलसे? मैं एक शब्दमें मान लूँ कि विवाहकी रक्षा मुझसे नहीं हुई। विवाहके नेमका निभाव मैंने नहीं किया। मैं अपनेको उससे तुड़ाकर अब यहाँ मृत्युके तटपर फाँसीके मल्लाहोंकी प्रतीक्षा करता बैठा हूँ। तब क्या वह विवाह उन नवीनाको वंचिता, उस फेरोंकी गुनहगारको अरक्षणीया बना रखनेके लिए ही टिका रहेगा?

लेकिन विवाह भी क्या चीज़ है? विवाहने मुझे पति बना दिया। क्या पतिका यह अर्थ था कि मैं पत्नीके प्रति एक दिनके लिए भी प्राप्य न बनूँ और बहुत जल्दी अपनी मौतको खोज लेकर उस नवोढाके लिए चिर-अप्राप्य और चिर-शोध्य बन जाऊँ?

किन्तु विवाह ही तो है कि पत्नीके लिए सदा मैं ही आराध्य रहूँगा। और जब संदेह 'मुझ'को सेवाके लिए वह नहीं पा सकेगी, तब विगत-देह रूपमें ही उसे अपनी पूजा मुझे भेजती रहनी होगी।

जिसने मनकी भक्ति और स्नेहको इस प्रकार एकनिष्ठाके साथ अमुक एक ध्येय की ओर उन्मुख बन उमड़ते रहने और झरते रहनेका उपाय प्रस्तुत कर दिया, वह मनुष्यकी अनुपम कृति है—विवाह! अब यहाँ इस पार आकर मैं उस संस्थाका महत्व देखता हूँ। वह संस्था चाहे समाजकी व्यावहारिक आवश्यकतामेंसे ही निकली हो; पर वह वर्धिष्णु भावसे मनुष्यकी परोन्मुख वृत्तियोंको अपनेमें धारण करती रही है।··· किन्तु इसी विवाह-संस्थाका परिणाम अत्याचार क्यों हो ?

कुलवन्त पचीस वर्षका तो होगा। वह सुषमाकी तरफसे किनारा करता भी नहीं दीखता। इस ओर वह अनुग्रहार्थी भी हो, तो मुझे विस्मय न होगा। आखिर तो जवान है। उसे कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। ऊपरी संकोच ?—सो मैं समझो-बुझा दूँगा।

लेकिन सुषमाको राह कैसे लाना होगा ? वह क्या मेरी बात भी सुनेगी ? सुने भी, तो क्या तनिक भी अपने मनपर उसे ठहरने देगी ! नहीं-नहीं, वह नहीं मानेगी। वह शिक्षिता नहीं है। बेचारी सतियोंकी कहानियोंको पकड़े बैठी है। वह किस तरह मान सकेगी ?

पर मैं फाँसीके प्रति कितना ही निस्संग हूँ, मेरी समाप्तिका अर्थ सदाके लिए सुषमाका सुहाग पुँछ जाना यदि होगा, तो उस मौतमें मुझे कलक रहेगी ही।··· ···नहीं, वह नहीं विधवा होगी। मैं मरूँगा; किन्तु मैं उसे विधवा नहीं होने दूँगा।···

* * *

अगले रोज़ जब माता-पिता और उसके भाई उससे मिलने आये, तब लम्ब घूँघट काढ़े हुए, सिमटी-सिमटाई उसकी पत्नी भी आई। सब लोग बातें करने लगे। और सुषमा घूँघटमें बन्द, पीछे, एक ओर चुपचाप बैठी रही।

ऐसे समय जब कि बिदा अन्तिम होती है, तब कहनेको पास कोई बात नहीं मालूम होती। जीवनके सब व्यापार मानो उस महाघटनाके सामने अति तुच्छ हो पड़ते हैं। वही बात यहाँ थी। सबके मन उस समय ऐसे पककर भरे हुए थे कि मुँह

किसीका खुलता ही न था। उस नीरवताके त्रासको तोड़ते हुए अन्तमें दिनकरने ही अपनी ओरसे बढ़कर पूछा—हिरिया, अब कैसी है, बाबूजी ?...और क्यों कुलवन्त कैसे हो ?

पिताने कहा—उसने पंखा दिया है।

और कुलवन्तने कुछ गुन-गुन किया।

बात फिर खत्म होती-सी मालूम हुई। सबके मनमें इतना कुछ था कि किस ओरसे उनमेंसे किस तारको छेड़कर मनके व्यथा-पिण्डको छिलने दें, यह किसीको सूझ न पड़ता था।

इतनेमें दिनकरकी माँने सुषमाके पास जाकर भर्राये कंठसे कहा—बेटी, अब बोल तो ले। अब काहेकी लाज!

सुषमा वहीं जमी रह गई। कुछ भी बोलने-बतलाने पतिके पास न जा सकी।

उस समय सबके कंठ भर आये और सब सयत्न हुए कि उठते हुए आँसू वे भीतर ही पी जायँ, कहीं वे ढरकें नहीं।

उस समय पिता मुख ऊपर उठाकर निरुद्देश्य भावसे बोल उठे—'ओह, तीन बज गये!' और रुमाल निकालकर बेमालूम तौरपर आँख और नाकका पानी उन्होंने पोंछ लिया और ऊपरकी ही ओर शून्य मुद्रामें ताकते रह गये।

तभी खुले तौरपर काँपते कंठसे माँने सुषमाका हाथ पकड़कर उठाते हुए कहा—'बेटा, लाज-शरम अब कै घड़ीकी है। तेरा भाग्य अब फूटा ही रखा है। आखिरी घड़ी मिल-बोल तो ले।' फिर भी जब सुषमा बिलकुल नहीं उठ सकी, तो माँने बाँह पकड़कर उसे उठाया और दिनकरके पास ला बिठाया। सुषमा वहाँ आकर सिमटती हुई ही बैठ गई।

माँने दिनकरसे कहा—बेटा, इस नन्हीको तो समझा। यह तो घरमें भी किसीसे नहीं बोलती है।

दिनकर लौटना अब भी नहीं चाहता है। वह कर्रा ही बना है; पर मन जाने उसका कैसा-कैसा होने लगा।

उसने हँसकर कहा—पगली है।

माँने कहा—बेटा, इसपर तो तुझे तरस करना था।

यह सुनकर पिता बेहद अवश, कातर हो पड़े। बोले—'कुछ बात नहीं', 'कुछ

बात नहीं,' और अवगुण्ठनावृत सुषमाके सिरपर अपने बड़े चौड़े दायें हाथको ला रखा। उसे सिरपर फेरते हुए कहा—बेटा, हमारा बीरन बहादुर है, चोर-डाकू नहीं है। देखो, कितने उसकी जय बोलते हैं। वह स्वर्गको जा रहा है। ऐसे लाल क्या सबके होते हैं ? धीरज रख, मेरे बेटे, मेरे बटुए···। यह कहते-कहते पिताके आँसू तार-तार झरने लगे। उस समय किसीके भी आँसू रोके न रुके। पर, अवगुण्ठनके भीतरकी उन आँखोंमें क्या हुआ, यह किसीको पता न चल सका।

थोड़ी देरमें दिनकरने पिताजीको अलग ले जाकर कहा—पिताजी, मेरी एक साध है। फाँसीके दिनसे पहले-पहले सुषमा और कुलवन्तका विवाह कर दीजिए।

पिताने कहा—क्या कहते हो बेटा ? सुषमाको तुम नहीं जानते।

दिनकरने कहा—पिताजी, मुझे कुछ भी और इच्छा नहीं है। यह नहीं करेंगे, तो मेरी गति नहीं होगी।

पिताने कहा—सुषमाको तुम समझा दो बेटा, तो हमें खुशी ही होगी।

थोड़ी देरमें माता-पिता आदिको कुछ काम निकल आया और एकान्त पाकर दिनकरने पत्नीसे कहा—सुषमा, मेरी एक बात सुन सकती हो ?···

ज़रूर सुन लेगी। सुनाओ, वह चुप है।

"···मैंने तुम्हें दुःख-ही-दुःख दिया।···"

वह चुप है।

"मैं कैसे कहूँ, तुम मेरी बात मानो ; लेकिन मरतेकी एक बात यों भी मान लेते हैं। मैं अब मौतसे कितनी दूर हूँ ?—"

सुषमा चुप ही है।

"मैं सुषमा, यह जानता हुआ मरना चाहता हूँ—"

अरे दिनकर, ऐसी बात धीमी चालसे नहीं, झटपट कह डालो कि एक ही घूँटमें वह गटक ली जाय। कैसी कड़वी बात कह रहे हो, सो अटको नहीं ; क्योंकि सुषमा चुप है और उसके भीतर मन भी है।

"यह जानता हुआ मरना चाहता हूँ कि मैं अकेला मर रहा हूँ—अकेला।—"

अरे, कहे जाओ न, कहे जाओ। सुषमा चुप है।

"अकेला। यह पक्का ज्ञान लेकर मरना चाहता हूँ कि मेरे मरनेसे तुम विधवा नहीं बनोगी।···"

चुप ।

"कुलवन्तको तुम जानती हो···"

तब सुषमाने घूँघटके भीतरसे ही आहिस्तासे कहा—"मुझे तुम एक ज़हरकी पुड़िया दे जाओ । बस ।"

दिनकर एकदम भूला-सा हो गया । उसने सुना—

"बस, मुझेऔर कुछ न चाहिए । मैंने तुमसे क्या माँगा है ? अब यह माँगती हूँ ।-"

दिनकरके भीतरसे पिण्डाकार एक घनी व्यथा उठी—वह गले तक भर आई—मुझे फाँसी लगनी है सुषमा । आज, कल···चाहो तो अँगुलीपै दिन गिना दूँ । ऐसे समय मुझसे तुम यही कह सकती हो, मेरी सुषमा ?

दिनकरकी वाणीसे सुषमा भीतर-ही-भीतर काँप गई—मेरे राजा, तुम्हारे हाथ जोड़ती हूँ । पर, राजा मेरे, तुम मुझे कैसी समझते हो ?

दिनकरको इसपर एक क्षण उत्तर नहीं सूझा । रुककर उसने कहा—कैसो समझता हूँ ? कैसी समझता हूँ ? ऐसी समझता हूँ कि ज़हरका प्याला दूँगा, उसको भी मुझे देखते-देखते खुशीसे तुम पीओगी ।

सुषमाने कहा—यही तुम कहते हो ?

दिनकर चुप ।

'यही तुम कहते हो ?"

चुप ।

"मेरे प्यारे, कहो, तुम मेरे राजा हो । और एक बार फिर कहो, यही तुम कहते हो ?"

दिनकर अपनेमें छोटे-में-छोटा ही होता गया और मानो सुषमाके स्वरने किसी ओर उसके लिए मार्ग नहीं छोड़ा । उसने कहा—सुषमा, मैं पति हूँ न, तब यही कहता हूँ ।

धन्य, सुषमाने दिनकरके चरण छुए । घूँघट हट गया, बोली – भगवान् ऊपर सब देखता है । पर मेरे लिए तो तुम हो । भगवान् मेरे लिए और कौन है, शास्तर और कौनसा है । तुम्हीं तो सब कुछ हो । मेरे पास और कोई धरम-करम नहीं है, मेरे मालिक !

और घूँघट हटाकर उसने अच्छी तरह जान लिया कि इनके जीते-जी कुलवन्तसे वह विवाह कर लेगी। हाँ, जीते-जी। अरे, ज़हरके प्यालेसे भी वह अब मुँह किस भाँति मोड़ेगी ? हँसकर पी डालेगी ही नहीं, स्वादसे ज़िन्दगी भर घूँट-घूँट पीती रहेगी।

जैनेन्द्रकुमार की अन्य प्राप्य रचनाएँ

१

परख-स्पर्धा

श्री जैनेन्द्रकुमार का प्रथम उपन्यास और उनकी पहली कहानी, मूल्य १॥)

२

त्याग-पत्र

मौलिक, सामाजिक उपन्यास ; अतिशय प्रसिद्ध। मूल्य १॥)

३

कल्याणी

मौलिक सामाजिक उपन्यास। मूल्य २)

४

सुनीता

मौलिक, सामाजिक उपन्यास। मूल्य १॥)

५

नीलमदेश की राजकन्या

कहानियों का एक अनूठा संग्रह। मूल्य २)

६

जैनेन्द्र के विचार

निबन्ध-संग्रह। मूल्य ३॥)

७

प्रस्तुत प्रश्न

निबन्ध-संग्रह। मूल्य २)

सरस्वती प्रेस बनारस